श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।
देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

अथ ध्यानम्

कृष्णं(न्) नारायणं(वँ) वन्दे, कृष्णं(वँ) वन्दे व्रजप्रियम्।
कृष्णं(न्) द्वैपायनं(वँ) वन्दे, कृष्णं(वँ) वन्दे पृथासुतम् ॥ 1॥

अर्थात् कृष्ण ही नारायण भगवान् हैं। कृष्ण ही व्रजप्रिय,कृष्ण ही द्वैपायन व्यास हैं और कृष्ण ही अर्जुन हैं।

सच्चिदानंद रूपाय, विश्वोत्पत्यादिहेतवे।
तापत्रय विनाशाय, श्रीकृष्णाय वयं(न्) नुमः ॥ 2॥

सच्चिदानंदस्वरुप भगवान श्रीकृष्ण को हम नमस्कार करते हैं, जो इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति, और विनाश के लिए उत्तरदायी हैं। वे आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक- तीनों प्रकार के तापों का नाश करने वाले हैं।

शान्ताकारं(म्) भुजगशयनं(म्), पद्मनाभं(म्) सुरेशं(वँ),
विश्वाधारं(ङ्) गगनसदृशं(म्), मेघवर्णं(म्) शुभाङ्गम् ।
लक्ष्मीकान्तं(ङ्) कमलनयनं(यँ), योगिभिर्ध्यानगम्यम्,
वन्दे विष्णुं(म्) भवभयहरं(म्), सर्वलोकैकनाथम् ॥ 3॥

जिनकी आकृति अतिशय शांत है, जो शेषनाग की शैया पर शयन किए हुए हैं, जिनकी नाभि में कमल है , जो देवताओं के भी ईश्वर हैं, संपूर्ण जगत के आधार हैं, जो आकाश के सदृश सर्वत्र व्याप्त हैं, नील मेघ के समान जिनका वर्ण है, अतिशय सुंदर जिनके संपूर्ण अंग है, जो योगियों द्वारा ध्यान करके प्राप्त किए जाते हैं, जो संपूर्ण लोकों के स्वामी हैं, जो जन्म मरण रूपी भय का नाश करने वाले हैं, ऐसे लक्ष्मीपति कमल नेत्र भगवान श्री विष्णु को मैं प्रणाम करता हूं

यं(म्) ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः(स्) स्तुन्वन्ति दिव्यैः(स्) स्तवैर्-
वेदैः(स्) साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं(म्) सामगाः।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं(यँ) योगिनो-
यस्यान्तं(न्) न विदुः(स्) सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥ 4॥

ब्रह्मा,वरुण,इंद्र रुद्र और मरुद्गण दिव्य स्तोत्रों द्वारा जिनकी स्तुति करते हैं,सामवेद के गाने वाले अंग, पद, क्रम और उपनिषदों के सहित वेदों द्वारा जिनका गान करते हैं, योगीजन ध्यान में स्थित तद्गत हुए मन से जिनके दर्शन करते हैं,देवता और असुर गण जिनके अंत को नहीं जानते,उन परम पुरुष नारायण देव के लिए मेरा नमस्कार है

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला,
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला ।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी,
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवै रणनदी कैवर्तकः(ख्) केशवः ॥ 5॥

भीष्म और द्रोण जिसके दो तट है, जयद्रथ जिसका जल है, शकुनि ही जिसमें नीलकमल है,शल्य जलचर ग्राह (मगर) है, कर्ण तथा कृपाचार्य ने जिसकी मर्यादा को आकुल कर डाला है,अश्वत्थामा और विकर्ण भी जिस के घोर मगर हैं,दुर्योधन रूपी भंवर से युक्त ऐसी भयंकर रणनदी को केवल श्रीकृष्ण रूपी नाविक की सहायता से पाण्डव पार कर गये ।

वसुदेवसुतं(न्) देवं(ङ्), कं(म्)सचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं(ङ्), कृष्णं(वँ) वन्दे जगद्गुरुम् ॥ 6॥

कंस और चाणूर का वध करने वाले देवकी के आनंद वर्धन, वसुदेव नंदन, जगत्गुरु श्री कृष्ण चंद्र की मैं वंदना करता हूं।

प्रपन्नपारिजाताय, तोत्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय, गीतामृतदुहे नमः ॥ 7॥

श्री कृष्ण को नमस्कार, जो इच्छापूर्ति करने वाले वृक्ष के समान हैं। वे अपनी छड़ी से पथभ्रष्ट हुए भक्तों को मार्गदर्शित करते हैं, गहन ज्ञान के प्रतीक हैं, तथा उन्होंने हमें गीता का बहुमूल्य अमृत दिया है।

मूकं(ङ्) करोति वाचालं(म्), पङ्गुं(लँ) लङ्घयते गिरिम् ।

यत्कृपा तमहं(वँ) वन्दे, परमानन्दमाधवम् ॥ 8॥

मैं भक्तिपूर्वक कृष्ण की दिव्य कृपा का स्मरण करता हूं जो ऐसा कर सकती है गूंगे वाक्पटुता के साथ बोलते हैं और पंगु व्यक्ति पर्वतो को पार कर जाते है, मैं उस कृपा को याद करता हूं और उसका गुणगान करता हूं जो माधव की सर्वोच्च आनंद अभिव्यक्ति से बहती है।

अथ श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यम्

ॐ पार्थाय प्रतिबोधितां(म्) भगवता नारायणेन स्वयं(वँ),

व्यासेन ग्रथितां(म्) पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम् ।

अद्वैतामृतवर्षिणीं(म्) भगवतीमष्टादशाध्यायिनी-

मम्बं त्वामनुसन्दधामि भगवद् गीते भवद्वेषिणीम् ॥ 1॥

हे भगवद्गीता,जिसे स्वयं भगवान नारायण ने पार्थ को प्रकाशित किया था,तथा जिसकी रचना महाभारत में प्राचीन ऋषि व्यास ने की थी, हे दिव्य माता,पुनर्जन्म का नाश करने वाली,अद्वैत रूपी अमृत की वर्षा करने वाली तथा अठारह अध्यायों से युक्त, हे गीता, हे स्नेहमयी माता, मैं आपका ध्यान करता हूँ!

पाराशर्यवचः(स्) सरोजममलं(ङ्) गीतार्थगन्धोत्कटं(न्),

नानाख्यानककेसरं(म्) हरिकथा- सम्बोधनाबोधितम् ।

लोके सज्जनषट्पदैरहरहः(फ्) पेपीयमानं(म्) मुदा,

भूयाद्भारतपङ्कजं(ङ्) कलिमल- प्रध्वं(म्)सिनः(श्) श्रेयसे ॥ 2॥

पराशर ऋषि के पुत्र वेद व्यास जी के मुख से निकली हुई यह वाणी, उस मलरहित कमल पुष्प के समान है, जो गीता के सार्थक अर्थ रूपी सुगंध के कारण अत्यंत प्रभावशाली तथा तेजस्वी हो गई है। भगवद् गीता में भगवान के विभिन्न आख्यानों की तुलना कमल पुष्प के तंतुओं से की गई है। श्रीमद्भगवद्गीता श्री हरि की विभिन्न कथाओं एवं प्रदत्त शिक्षा के फलस्वरूप जीवंत प्रतीत होती है। सज्जन पुरुष को भंवरे की उपमा दी गई है जो प्रतिदिन इस कमल पुष्प का रस पीकर मुदित होते हैं। यह पंचम वेद महाभारत भी कमल पुष्प के समान है, जो कलियुग के समस्त पापों का हरण के लिए अत्यंत श्रेयस्कर है।

गीताशास्त्रमिदं(म्) पुण्यं(यँ), यः(फ्) पठेत् प्रयतः(फ्) पुमान् |

विष्णोः(फ्) पदमवाप्नोति, भयशोकादिवर्जितः ॥ 3॥

जो मनुष्य शुद्धचित्त होकर प्रेमपूर्वक इस पवित्र गीताशास्त्रका पाठ करता है, वह भय और शोक

आदिसे रहित होकर विष्णुधामको प्राप्त कर लेता है

गीताध्ययनशीलस्य, प्राणायामपरस्य च ।
नैव सन्ति हि पापानि, पूर्वजन्मकृतानि च ॥ 4॥

जो मनुष्य सदा गीताका पाठ करनेवाला है तथा प्राणायाममें तत्पर रहता है, उसके इस जन्म और पूर्वजन्ममें किये हुए समस्त पाप निःसन्देह नष्ट हो जाते हैं

मलनिर्मोचनं(म्) पुं(म्)सां(ञ्), जलस्नानं(न्) दिने दिने ।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं(म्), सं(म्)सारमलनाशनम् ॥ 5॥

जलमें प्रतिदिन किया हुआ स्नान मनुष्योंके केवल शारीरिक मलका नाश करता है, परंतु गीताज्ञानरूप जलमें एक बार भी किया हुआ स्नान संसार-मलको नष्ट करनेवाला है

गीता सुगीता कर्तव्या, किमन्यैः(श्) शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं(म्) पद्मनाभस्य, मुखपद्माद्विनिः(स्)सृता ॥ 6॥

जो साक्षात् कमलनाभ भगवान् विष्णुके मुखकमलसे प्रकट हुई है, उस गीताका ही भलीभाँति गान (अर्थसहित स्वाध्याय) करना चाहिये, अन्य शास्त्रोंके विस्तारसे क्या प्रयोजन है

भारतामृतसर्वस्वं(वँ), विष्णोर्वक्त्राद्विनिः(स्)सृतम् ।
गीता गङ्गोदकं(म्) पीत्वा, पुनर्जन्म न विद्यते ॥ 7॥

जो महाभारतका अमृतोपम सार है तथा जो भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे प्रकट हुआ है, उस गीतारूप गंगाजलको पी लेनेपर पुनः इस संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ता

सर्वोपनिषदो गावो, दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः(स्) सुधीर्भोक्ता, दुग्धं(ङ्) गीतामृतं(म्) महत् ॥ 8॥

सम्पूर्ण उपनिषदें गौके समान हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण दुहनेवाले हैं, अर्जुन बछड़ा है तथा महान् गीतामृत ही उस गौका दुग्ध है और शुद्ध बुद्धिवाला श्रेष्ठ मनुष्य ही इसका भोक्ता है

भारतामृतसर्वस्व- गीताया मथितस्य च।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन, अर्जुनस्य मुखे हुतम् ॥ 9॥

कृष्ण ने महाभारत के अमृत सागर (जिसे पांचवें वेद के रूप में जाना जाता है) का मंथन किया और उसका सार लेकर अर्जुन को भगवद्गीता के रूप में पिलाया।

सर्वशास्त्रमयी गीता, सर्वदेवमयो हरिः।

सर्वतीर्थमयी गंगा, सर्ववेदमयो मनुः ॥10॥

गीता सभी शास्त्रों का सार है। भगवान हरि सभी देवों के निवास स्थान हैं। गंगा सभी पवित्र जलों का सार है और मनुस्मृति वेदों का सारांश है

गीता गंगा च गायत्री, गोविंदेति हृदि स्थिते।

चतुर्गकारसंयुक्ते , पुनर्जन्म न विद्यते ॥ 11॥

जिसके हृदय में गीता, गंगा,गायत्री और गोविंद ये चार 'ग' कार स्थित हैं, उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे-

फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र ।

येन त्वया भारततैलपूर्णः(फ्)-

प्रज्वालितो ज्ञानमयः(फ्) प्रदीपः ॥ 12॥

हे व्यासदेव, मैं आपके व्यापक और गहन ज्ञान के लिए आपको नमन करता हूँ।आपकी भव्य आँखें पूर्ण रूपसे खिले हुए कमल की पंखुड़ियों जैसी हैं।आपने भारतम् नामक तेल से ज्ञान का दीपक जलाया है।

एकं(म्) शास्त्रं(न्) देवकीपुत्रगीत-

मेको देवो देवकीपुत्र एव ।

एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि

कर्माप्येकं(न्) तस्य देवस्य सेवा ॥ 13॥

देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका कहा हुआ गीताशास्त्र ही एकमात्र उत्तम शास्त्र है, भगवान् देवकीनन्दन ही एकमात्र महान् देवता हैं, उनके नाम ही एकमात्र मन्त्र हैं और उन भगवान्की सेवा ही एकमात्र कर्तव्य कर्म है

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः(श्)शान्तिः(श्)शान्तिः ॥

श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता प्रथम अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।
देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

श्रीमद्भगवद्गीतायां(म्)
प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे, समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः(फ्) पाण्डवाश्चैव, किमकुर्वत सञ्जय ॥ 1॥

धृतराष्ट्र बोले- हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में एकत्रित, युद्ध की इच्छावाले मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया ?

सञ्जय उवाच
दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं(वँ),व्यूढं(न्) दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य, राजा वचनमब्रवीत् ॥ 2 ॥

संजय बोले- उस समय राजा दुर्योधन ने व्यूहरचनायुक्त पाण्डवों की सेना को देखा और द्रोणाचार्य के पास जाकर यह वचन कहा।

पश्यैतां(म्) पाण्डुपुत्राणा-माचार्य महतीं(ञ्) चमूम् ।
व्यूढां(न्) द्रुपदपुत्रेण, तव शिष्येण धीमता ॥ 3॥

हे आचार्य! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रों की इस बड़ी भारी सेना को देखिए।

अत्र शूरा महेष्वासा, भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च, द्रुपदश्च महारथः ॥ 4॥

इस सेना में बड़े-बड़े धनुषों वाले तथा युद्ध में भीम और अर्जुन के समान शूरवीर सात्यकि और विराट तथा महारथी राजा द्रुपद भी हैं।

धृष्टकेतुश्चेकितानः(ख्),काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च, शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ 5॥

धृष्टकेतु और चेकितान तथा बलवान काशिराज,पुरुजित, कुन्तिभोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य भी हैं ।

युधामन्युश्च विक्रान्त, उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च, सर्व एव महारथाः ॥ 6॥

पराक्रमी युधामन्यु तथा बलवान उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु एवं द्रौपदी के पाँचों पुत्र- ये सभी महारथी हैं।

अस्माकं(न्) तु विशिष्टा ये, तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य, सञ्ज्ञार्थं(न्) तान् ब्रवीमि ते ॥ 7॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! अपने पक्ष में भी जो प्रधान हैं, उनको आप समझ लीजिए। आपकी जानकारी के लिए मेरी सेना के जो-जो सेनापति हैं, उनको बतलाता हूँ।

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च, कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च, सौमदत्तिस्तथैव च ॥ 8॥

आप-द्रोणाचार्य और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा।

अन्ये च बहवः(श्) शूरा, मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः(स्), सर्वे युद्धविशारदाः ॥ 9॥

और भी मेरे लिए जीवन की आशा त्याग देने वाले बहुत-से शूरवीर अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित और सब-के-सब युद्ध में चतुर हैं।

अपर्याप्तं(न्) तदस्माकं(म्), बलं(म्) भीष्माभिरक्षितम् ।

पर्याप्तं(न्) त्विदमेतेषां(म्), बलं(म्) भीमाभिरक्षितम् ॥ 10॥

भीष्म पितामह द्वारा रक्षित हमारी वह सेना सब प्रकार से अजेय है और भीम द्वारा रक्षित इन लोगों की यह सेना जीतने में सुगम है।

अयनेषु च सर्वेषु, यथाभागमवस्थिताः ।

भीष्ममेवाभिरक्षन्तु, भवन्तः(स्) सर्व एव हि ॥ 11॥

इसलिए सब मोर्चों पर अपनी-अपनी जगह स्थित रहते हुए आप लोग सभी निःसंदेह भीष्म पितामह की ही सब ओर से रक्षा करें।

तस्य संजनयन् हर्षं(ङ्), कुरुवृद्धः(फ्) पितामहः ।

सिं(म्)हनादं(वँ) विनद्योच्चैः(श्), शङ्खं(न्) दध्मौ प्रतापवान् ॥ 12॥

कौरवों में वृद्ध बड़े प्रतापी पितामह भीष्म ने उस दुर्योधन के हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वर से सिंह की दहाड़ के समान गरजकर शंख बजाया।

ततः(श्) शङ्खाश्च भेर्यश्च, पणवानकगोमुखाः ।

सहसैवाभ्यहन्यन्त, स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ 13॥

इसके पश्चात शंख और नगाड़े तथा ढोल, मृदंग और नरसिंघे आदि बाजे एक साथ ही बज उठे। उनका वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ।

ततः(श्) श्वेतैर्हयैर्युक्ते, महति स्यन्दने स्थितौ ।

माधवः(फ्) पाण्डवश्चैव, दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ 14॥

इसके अनन्तर सफेद घोड़ों से युक्त उत्तम रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण महाराज और अर्जुन ने भी अलौकिक शंख बजाए।

पाञ्चजन्यं(म्) हृषीकेशो, देवदत्तं(न्) धनञ्जयः ।

पौण्ड्रं(न्) दध्मौ महाशङ्खं(म्), भीमकर्मा वृकोदरः ॥ 15॥

श्रीकृष्ण महाराज ने पाञ्चजन्य नामक, अर्जुन ने देवदत्त नामक और भयानक कर्मवाले भीमसेन ने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया।

अनन्तविजयं(म्) राजा, कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।

नकुलः(स्) सहदेवश्च, सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ 16॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक और नकुल तथा सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक

नामक शंख बजाए।

काश्यश्च परमेष्वासः(श्), शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च, सात्यकिश्चापराजितः ॥ 17॥

श्रेष्ठ धनुष वाले काशिराज और महारथी शिखण्डी एवं धृष्टद्युम्न तथा राजा विराट और अजेय सात्यकि ने शंख बजाए।

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च, सर्वशः(फ्) पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः(श्), शङ्खान्दधमुः(फ्) पृथक् पृथक् ॥ 18॥

राजा द्रुपद एवं द्रौपदी के पाँचों पुत्र और बड़ी भुजावाले सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु- इन सभी ने, हे राजन्! सब ओर से अलग-अलग शंख बजाए।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां(म्), हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं(ञ्) चैव, तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ 19॥

उस भयानक शब्द ने आकाश और पृथ्वी को भी गुंजाते हुए धार्तराष्ट्रों के अर्थात् आपके पक्षवालों के हृदय विदीर्ण कर दिए।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा, धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते, धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ 20॥

हे राजन्! इसके बाद कपिध्वज अर्जुन ने मोर्चा बाँधकर डटे हुए धृतराष्ट्र-संबंधियों को देखकर, उस शस्त्र चलने की तैयारी के समय धनुष उठाकर कहा।

हृषीकेशं(न्) तदा वाक्य- मिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये, रथं(म्) स्थापय मेऽच्युत ॥ 21॥

हृषीकेश श्रीकृष्ण महाराज से यह वचन कहा- हे अच्युत! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिए।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं(यँ), योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्य- मस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ 22॥

और जब तक कि मैं युद्ध क्षेत्र में डटे हुए युद्ध के अभिलाषी इन विपक्षी योद्धाओं को भली प्रकार देख न लूँ कि इस युद्ध रूप व्यापार में मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना योग्य है, तब तक उसे खड़ा रखिए।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं(यँ), य एतेऽत्र समागताः ।

धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्-युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ 23॥

दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में हित चाहने वाले जो-जो ये राजा लोग इस सेना में आए हैं, इन युद्ध करने वालों को मैं देखूँगा।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो, गुडाकेशेन भारत ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये, स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ 24॥

संजय बोले- हे धृतराष्ट्र! अर्जुन द्वारा कहे अनुसार महाराज श्रीकृष्णचंद्र ने दोनों सेनाओं के बीच में उत्तम रथ को खड़ा कर दिया।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः(स्), सर्वेषां(ञ्) च महीक्षिताम् ।

उवाच पार्थ पश्यैतान्- समवेतान्कुरूनिति॥ 25॥

भीष्म और द्रोणाचार्य तथा सम्पूर्ण राजाओं के सामने इस प्रकार कहा कि हे पार्थ! युद्ध के लिए जुटे हुए इन कौरवों को देख।

तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः(फ्), पितॄनथ पितामहान् ।

आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्- पुत्रान्पौत्रान्सखींं(म्)स्तथा ॥ 26॥

इसके बाद पृथापुत्र अर्जुन ने उन दोनों ही सेनाओं में स्थित ताऊ-चाचाओं को, दादा -परदादाओं, गुरुओं को, मामाओं को,भाइयों को, पुत्रों को, पौत्रों को तथा मित्रों को देखा।

श्वशुरान्सुहृदश्चैव, सेनयोरुभयोरपि ।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः(स्), सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ 27॥

श्वसुरों को और सुहृदों को भी देखा।उन उपस्थित सम्पूर्ण बंधुओंको देखकर वे कुंतीपुत्र अर्जुन ने कहा।

कृपया परयाविष्टो, विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं(म्) स्वजनं(ङ्) कृष्ण, युयुत्सुं(म्) समुपस्थितम् ॥ 28॥

अत्यन्त करुणा से युक्त होकर शोक करते हुए अर्जुन यह वचन बोले- हे कृष्ण! युद्ध क्षेत्र में डटे हुए युद्ध के अभिलाषी इस स्वजनसमुदाय को देखिए।

सीदन्ति मम गात्राणि, मुखं(ञ्) च परिशुष्यति ।

वेपथुश्च शरीरे मे, रोमहर्षश्च जायते ॥ 29॥

मेरे अंग शिथिल हुए जा रहे हैं और मुख सूखा जा रहा है तथा मेरे शरीर में कम्पन एवं रोमांच हो रहा है।

गाण्डीवं(म्) स्रं(म्)सते हस्तात्-त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं(म्), भ्रमतीव च मे मनः ॥ 30॥

हाथ से गांडीव धनुष गिर रहा है और त्वचा भी बहुत जल रही है तथा मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है, इसलिए मैं खड़े रहने में भी असमर्थ हूँ।

निमित्तानि च पश्यामि, विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि, हत्वा स्वजनमाहवे ॥ 31॥

हे केशव! मैं लक्षणों को भी विपरीत ही देख रहा हूँ तथा युद्ध में स्वजन-समुदाय को मारकर कल्याण भी नहीं देखता।

न काङ्क्षे विजयं(ङ्) कृष्ण, न च राज्यं(म्) सुखानि च ।
किं(न्) नो राज्येन गोविन्द, किं(म्) भोगैर्जीवितेन वा ॥32॥

हे कृष्ण! मैं न तो विजय चाहता हूँ और न राज्य तथा सुखों को । हे गोविंद! हमें ऐसे राज्य से क्या प्रयोजन है अथवा ऐसे भोगों से और जीवन से भी क्या लाभ है ?

येषामर्थे काङ्क्षितं(न्) नो, राज्यं(म्) भोगाः(स्) सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे, प्राणां(म्)स्त्यक्त्वा धनानि च ॥ 33॥

हमें जिनके लिए राज्य, भोग और सुखादि अभीष्ट हैं, वे ही ये सब धन और जीवन की आशा को त्यागकर युद्ध में खड़े हैं।

आचार्याः(फ्) पितरः(फ्) पुत्राः(स्), तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः(श्) श्वशुराः(फ्) पौत्राः(श्), श्यालाः(स्) सम्बन्धिनस्तथा ॥ 34॥

गुरुजन, ताऊ-चाचे, लड़के और उसी प्रकार दादे, मामे,ससुर,पौत्र,साले तथा और भी संबंधी लोग हैं।

एतान्न हन्तुमिच्छामि, घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य, हेतोः(ख्) किं(न्) नु महीकृते ॥ 35॥

हे मधुसूदन! मुझे मारने पर भी अथवा तीनों लोकों के राज्य के लिए भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता, फिर पृथ्वी के लिए तो कहना ही क्या है ?

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः(ख्), का प्रीतिः(स्) स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्- हत्वैतानाततायिनः॥ 36॥

हे जनार्दन! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी? इन आततायियों को मारकर तो हमें पाप ही लगेगा।

तस्मान्नार्हा वयं(म्) हन्तुं(न्), धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं(म्) हि कथं(म्) हत्वा, सुखिनः(स्) स्याम माधव ॥ 37॥

अतएव हे माधव! अपने ही बान्धव धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारने के लिए हम योग्य नहीं हैं क्योंकि अपने ही कुटुम्ब को मारकर हम कैसे सुखी होंगे।

यद्यप्येते न पश्यन्ति, लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं(न्) दोषं(म्), मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ 38॥

यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त हुए ये लोग कुल के नाश से उत्पन्न दोष को और मित्रों से विरोध करने में पाप को नहीं देखते।

कथं(न्) न ज्ञेयमस्माभिः(फ्), पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं(न्) दोषं(म्), प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ 39॥

हे जनार्दन! कुल के नाश से उत्पन्न दोष को जानने वाले हम लोगों को इस पाप से हटने के लिए क्यों नहीं विचार करना चाहिए ?

कुलक्षये प्रणश्यन्ति, कुलधर्माः(स्) सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं(ङ्) कृत्स्न- मधर्मोऽभिभवत्युत ॥ 40॥

कुल के नाश से सनातन कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं तथा धर्म का नाश हो जाने पर सम्पूर्ण कुल में पाप भी बहुत फैल जाता है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण, प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय, जायते वर्णसङ्करः ॥ 41॥

हे कृष्ण! पाप के अधिक बढ़ जाने से कुल की स्त्रियाँ अत्यन्त दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय! स्त्रियों के दूषित हो जाने पर वर्णसंकर उत्पन्न होता है।

सङ्करो नरकायैव, कुलघ्नानां(ङ्) कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां(लँ), लुप्तपिण्डोदक्रियाः ॥ 42॥

वर्णसंकर कुलघातियों को और कुल को नरक में ले जाने के लिए ही होता है।लुप्त हुई पिण्ड और जल की क्रिया वाले अर्थात् श्राद्ध और तर्पण से वंचित इनके पितर लोग भी अधोगति को प्राप्त होते हैं।

दोषैरेतैः(ख्) कुलघ्नानां(वँ), वर्णसङ्करकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः(ख्), कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ 43॥

इन वर्णसंकरकारक दोषों से कुलघातियों के सनातन कुल-धर्म और जाति-धर्म नष्ट हो जाते हैं।

उत्सन्नकुलधर्माणां(म्), मनुष्याणां(ञ्) जनार्दन ।
नरकेऽनियतं(वँ) वासो, भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ 44॥

हे जनार्दन! जिनका कुल-धर्म नष्ट हो गया है, ऐसे मनुष्यों का अनिश्चितकाल तक नरक में वास होता है, ऐसा हम सुनते आए हैं।

अहो बत महत्पापं(ङ्), कर्तुं(वँ) व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन, हन्तुं(म्) स्वजनमुद्यताः ॥ 45॥

हा! हम लोग बुद्धिमान होकर भी महान पाप करने को तैयार हो गए हैं, जो राज्य और सुख के लोभ से स्वजनों को मारने के लिए उद्यत हो गए हैं।

यदि मामप्रतीकार-मशस्त्रं(म्) शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्- तन्मे क्षेमतरं(म्) भवेत् ॥ 46॥

यदि मुझ शस्त्ररहित एवं सामना न करने वाले को शस्त्र हाथ में लिए हुए धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मार डालें तो वह मारना भी मेरे लिएअधिक कल्याणकारक होगा।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः(स्) सङ्ख्ये, रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं(ञ्) चापं(म्), शोकसं(वँ)विग्नमानसः ॥ 47॥

संजय बोले- रणभूमि में शोक से उद्विग्न मन वाले अर्जुन इस प्रकार कहकर, बाणसहित धनुष को त्यागकर रथ के पिछले भाग में बैठ गए।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ) योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसं(वँ)वादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः।

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः(श्)शान्तिः(श्)शान्तिः ॥

श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता द्वितीय अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(न्)

द्वितीयोऽध्यायः

सञ्जय उवाच

तं(न्) तथा कृपयाविष्ट- मश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।

विषीदन्तमिदं(वँ) वाक्य- मुवाच मधुसूदनः ॥ 1॥

संजय बोले- उस प्रकार करुणा से व्याप्त और आँसुओं से पूर्ण तथा व्याकुल नेत्रों वाले शोकयुक्त उस अर्जुन के प्रति भगवान मधुसूदन ने यह वचन कहा।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं(वँ), विषमे समुपस्थितम् ।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्य -मकीर्तिकरमर्जुन॥ 2॥

श्रीभगवान बोले- हे अर्जुन! तुझे इस असमय में यह मोह किस हेतु से प्राप्त हुआ? क्योंकि न तो यह श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा आचरित है, न स्वर्ग को देने वाला है और न कीर्ति को करने वाला ही है।

क्लैब्यं(म्) मा स्म गमः(फ्) पार्थ, नैतत्त्वय्युपपद्यते ।

क्षुद्रं(म्) हृदयदौर्बल्यं(न्), त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ 3॥

इसलिए हे अर्जुन! नपुंसकता को मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ती। हे परंतप! हृदय की तुच्छ दुर्बलता को त्यागकर युद्ध के लिए खड़ा हो जा।

अर्जुन उवाच

कथं(म्) भीष्ममहं(म्) सङ्ख्ये, द्रोणं(ञ्) च मधुसूदन ।

इषुभिः(फ्) प्रतियोत्स्यामि, पूजार्हावरिसूदन ॥ 4॥

अर्जुन बोले- हे मधुसूदन! मैं रणभूमि में किस प्रकार बाणों से भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य के विरुद्ध लड़ूँगा? क्योंकि हे अरिसूदन! वे दोनों ही पूजनीय हैं।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्-

श्रेयो भोक्तुं(म्) भैक्ष्यमपीह लोके ।

हत्वार्थकामां(म्)स्तु गुरूनिहैव

भुञ्जीय भोगान्-रुधिरप्रदिग्धान् ॥ 5॥

इसलिए इन महानुभाव गुरुजनों को न मारकर मैं इस लोक में भिक्षा का अन्न भी खाना कल्याणकारक समझता हूँ क्योंकि गुरुजनों को मारकर भी इस लोक में रुधिर से सने हुए अर्थ और कामरूप भोगों को ही तो भोगूँगा।

न चैतद्विद्मः(ख्) कतरन्नो गरीयो-

यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।

यानेव हत्वा न जिजीविषामस्-

तेऽवस्थिताः(फ्) प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ 6॥

हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिए युद्ध करना और न करना- इन दोनों में से कौन-सा श्रेष्ठ है, अथवा यह भी नहीं जानते कि उन्हें हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे। और जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही हमारे आत्मीय धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे मुकाबले में खड़े हैं॥6॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः(फ्),

पृच्छामि त्वां(न्) धर्मसम्मूढचेताः ।

यच्छ्रेयः(स्) स्यान्निश्चितं(म्) ब्रूहि तन्मे,

शिष्यस्तेऽहं(म्) शाधि मां(न्) त्वां(म्) प्रपन्नम् ॥ 7॥

इसलिए कायरता रूप दोष से उपहत हुए स्वभाव वाला तथा धर्म के विषय में मोहित चित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन निश्चित कल्याणकारक हो, वह मेरे लिए कहिए क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिए आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिए।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्-

यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।

अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं(म्),

राज्यं(म्) सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ 8॥

क्योंकि भूमि में निष्कण्टक, धन-धान्य सम्पन्न राज्य को और देवताओं के स्वामीपने को प्राप्त होकर भी मैं उस उपाय को नहीं देखता हूँ, जो मेरी इन्द्रियों के सुखाने वाले शोक को दूर कर सके।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं(ङ्), गुडाकेशः(फ्) परन्तप ।

न योत्स्य इति गोविन्द-मुक्त्वा तूष्णीं(म्) बभूव ह ॥ 9॥

संजय बोले- हे राजन्! निद्राको जीतने वाले अर्जुन अंतर्यामी श्रीकृष्ण महाराज के प्रति इस प्रकार कहकर फिर श्री गोविंद भगवान् से -"युद्ध नहीं करूँगा" यह स्पष्ट कहकर चुप हो गए।

तमुवाच हृषीकेशः(फ्), प्रहसन्निव भारत ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये, विषीदन्तमिदं(वँ) वचः ॥ 10॥

हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! अंतर्यामी श्रीकृष्ण महाराज दोनों सेनाओं के बीच में शोक करते हुए उस अर्जुन को हँसते हुए से यह वचन बोले।

श्री भगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं(म्), प्रज्ञावादां(म्)श्च भाषसे ।

गतासूनगतासूं(म्)श्च, नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ 11॥

श्री भगवान बोले, हे अर्जुन! तू न शोक करने योग्य मनुष्यों के लिए शोक करता है और पण्डितों के से वचनों को कहता है, परन्तु जिनके प्राण चले गए हैं, उनके लिए और जिनके प्राण नहीं गए हैं उनके लिए भी पण्डितजन शोक नहीं करते।

न त्वेवाहं(ञ्) जातु नासं(न्), न त्वं(न्) नेमे जनाधिपाः ।

न चैव न भविष्यामः(स्), सर्वे वयमतः(फ्) परम् ॥ 12॥

न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था, तू नहीं था अथवा ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे, कौमारं(यँ) यौवनं(ञ्) जरा ।

तथा देहान्तरप्राप्तिर् -धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ 13॥

जैसे जीवात्मा की इस देह में बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीर की प्राप्ति होती है, उस विषय में धीर पुरुष मोहित नहीं होता।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय, शीतोष्णसुखदुःखदाः ।

आगमापायिनोऽनित्यास्- तां(म्)स्तितिक्षस्व भारत ॥ 14॥

हे कुंतीपुत्र! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख को देने वाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग तो उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य हैं, इसलिए हे भारत! उनको तू सहन कर।

यं(म्) हि न व्यथयन्त्येते, पुरुषं(म्) पुरुषर्षभ ।

समदुःखसुखं(न्) धीरं(म्), सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ 15॥

क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख-सुख को समान समझने वाले जिस धीर पुरुष को ये इन्द्रिय और विषयों के संयोग व्याकुल नहीं करते, वह मोक्ष के योग्य होता है।

नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः ।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्- त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ 16॥

असत् वस्तु की तो सत्ता नहीं है और सत् का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनों का ही तत्व तत्वज्ञानी पुरुषों द्वारा देखा गया है।

अविनाशि तु तद्विद्धि, येन सर्वमिदं(न्) ततम् ।

विनाशमव्ययस्यास्य, न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ 17॥

नाशरहित तो तू उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत्- दृश्यवर्ग व्याप्त है। इस अविनाशी का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है।

अन्तवन्त इमे देहा, नित्यस्योक्ताः(श्) शरीरिणः ।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य, तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ 18॥

इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्मा के ये सब शरीर नाशवान कहे गए हैं, इसलिए हे भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर॥18॥

य एनं(वँ) वेत्ति हन्तारं(यँ), यश्चैनं(म्) मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतो, नायं(म्) हन्ति न हन्यते ॥ 19॥

जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते क्योंकि यह आत्मा वास्तव में न तो किसी को मारता है और न किसी के द्वारा मारा जाता है।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्-

नायं(म्) भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः(श्) शाश्वतोऽयं(म्) पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ 20॥

यह आत्मा किसी काल में भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला ही है क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता।

वेदाविनाशिनं(न्) नित्यं(यँ), य एनमजमव्ययम् ।

कथं(म्) स पुरुषः(फ्) पार्थ, कं(ङ्) घातयति हन्ति कम् ॥ 21॥

हे पृथापुत्र अर्जुन! जो पुरुष इस आत्मा को नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है ?

वासां(म्)सि जीर्णानि यथा विहाय,

नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्-

न्यन्यानि सं(यँ)याति नवानि देही ॥ 22॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नए वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नए शरीरों को प्राप्त होता है।

नैनं(ञ्) छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं(न्) दहति पावकः ।

न चैनं(ङ्) क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥ 23॥

इस आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, इसको आग नहीं जला सकती, इसको जल नहीं गला सकता और वायु नहीं सुखा सकता।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽय- मक्लेद्योऽशोष्य एव च ।

नित्यः(स्) सर्वगतः(स्) स्थाणु- रचलोऽयं(म्) सनातनः ॥ 24॥

क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और निःसंदेह अशोष्य है तथा यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहने वाला और सनातन है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽय- मविकार्योऽयमुच्यते ।

तस्मादेवं(वँ) विदित्वैनं(न्), नानुशोचितुमर्हसि ॥ 25॥

यह आत्मा अव्यक्त है, यह आत्मा अचिन्त्य है और यह आत्मा विकाररहित कहा जाता है। इससे हे अर्जुन! इस आत्मा को उपर्युक्त प्रकार से जानकर तू शोक करने के योग्य नहीं है अर्थात् तुझे शोक करना उचित नहीं है।

अथ चैनं(न्) नित्यजातं(न्), नित्यं(वँ) वा मन्यसे मृतम् ।

तथापि त्वं(म्) महाबाहो, नैवं(म्) शोचितुमर्हसि ॥ 26॥

किन्तु यदि तू इस आत्मा को सदा जन्मने वाला तथा सदा मरने वाला मानता हो, तो भी हे महाबाहो! तू इस प्रकार शोक करने योग्य नहीं है।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्-ध्रुवं(ञ्) जन्म मृतस्य च ।

तस्मादपरिहार्येऽर्थे, न त्वं(म्) शोचितुमर्हसि ॥ 27॥

क्योंकि इस मान्यता के अनुसार जन्मे हुए की मृत्यु निश्चित है और मरे हुए का जन्म निश्चित है। इससे भी इस बिना उपाय वाले विषय में तू शोक करने योग्य नहीं है।

अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत ।

अव्यक्तनिधनान्येव, तत्र का परिदेवना ॥ 28॥

हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणी जन्म से पहले अप्रकट थे और मरने के बाद भी अप्रकट हो जाने वाले हैं, केवल बीच में ही प्रकट हैं, फिर ऐसी स्थिति में क्या शोक करना है ?

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-

माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।

आश्चर्यवच्चैनमन्यः(श्) श्रृणोति,

श्रुत्वाप्येनं(वँ) वेद न चैव कश्चित् ॥ 29॥

कोई एक महापुरुष ही इस आत्मा को आश्चर्य की भाँति देखता है और वैसे ही दूसरा कोई महापुरुष ही इसके तत्व का आश्चर्य की भाँति वर्णन करता है तथा दूसरा कोई अधिकारी पुरुष ही इसे आश्चर्य की भाँति सुनता है और कोई-कोई तो सुनकर भी इसको नहीं जानता।

देही नित्यमवध्योऽयं(न्), देहे सर्वस्य भारत ।

तस्मात्सर्वाणि भूतानि, न त्वं(म्) शोचितुमर्हसि ॥ 30॥

हे अर्जुन! यह आत्मा सबके शरीर में सदा ही अवध्य है। इस कारण सम्पूर्ण प्राणियों के लिए तू शोक करने योग्य नहीं है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य, न विकम्पितुमर्हसि ।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्-क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ 31॥

तथा अपने धर्म को देखकर भी तू भय करने योग्य नहीं है अर्थात् तुझे भय नहीं करना चाहिए क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है।

यदृच्छया चोपपन्नं(म्), स्वर्गद्वारमपावृतम् ।

सुखिनः(ह) क्षत्रियाः(फ्) पार्थ, लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ 32॥

हे पार्थ! अपने-आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्ग के द्वार रूप इस प्रकार के युद्ध को भाग्यवान क्षत्रिय लोग ही पाते हैं।

अथ चेत्त्वमिमं(न्) धर्म्यं(म्), सङ्ग्रामं(न्) न करिष्यसि ।

ततः(स्) स्वधर्मं(ङ्) कीर्तिं(ञ्) च, हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ 33॥

किन्तु यदि तू इस धर्मयुक्त युद्ध को नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगा।

अकीर्तिं(ञ्) चापि भूतानि, कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।

सम्भावितस्य चाकीर्तिर्-मरणादतिरिच्यते ॥ 34॥

सब लोग तेरी बहुत काल तक रहने वाली अपकीर्ति का भी कथन करेंगे और माननीय पुरुष के लिए अपकीर्ति मरण से भी बढ़कर है।

भयाद्रणादुपरतं(म्), मं(म्)स्यन्ते त्वां(म्) महारथाः ।

येषां(ञ्) च त्वं(म्) बहुमतो, भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ 35॥

और जिनकी दृष्टि में तू पहले बहुत सम्मानित होकर अब लघुता को प्राप्त होगा, वे महारथी लोग तुझे भय के कारण युद्ध से हटा हुआ मानेंगे।

अवाच्यवादां(म्)श्च बहून्- वदिष्यन्ति तवाहिताः ।

निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं(न्), ततो दुःखतरं(न्) नु किम् ॥ 36॥

तेरे वैरी लोग तेरे सामर्थ्य की निंदा करते हुए तुझे बहुत से न कहने योग्य वचन भी कहेंगे, उससे अधिक दुःख और क्या होगा ?

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं(ञ्), जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय, युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ 37॥

या तो तू युद्ध में मारा जाकर स्वर्ग को प्राप्त होगा अथवा संग्राम में जीतकर पृथ्वी का राज्य भोगेगा। इस कारण हे अर्जुन! तू युद्ध के लिए निश्चय करके खड़ा हो जा।

सुखदुःखे समे कृत्वा, लाभालाभौ जयाजयौ ।

ततो युद्धाय युज्यस्व, नैवं(म्) पापमवाप्स्यसि ॥ 38॥

जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुख को समान समझकर, उसके बाद युद्ध के लिए तैयार हो जा, इस प्रकार युद्ध करने से तू पाप को नहीं प्राप्त होगा।

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये, बुद्धिर्योगे त्विमां(म्) श्रृणु ।

बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ, कर्मबन्धं(म्) प्रहास्यसि ॥ 39॥

हे पार्थ! यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कही गई और अब तू इसको कर्मयोग विषय में सुन- जिस बुद्धि से युक्त हुआ तू कर्मों के बंधन को भली-भाँति त्याग देगा अर्थात् सर्वथा नष्ट कर डालेगा।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति, प्रत्यवायो न विद्यते ।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य, त्रायते महतो भयात् ॥ 40॥

इस कर्मयोग में आरंभ का अर्थात् बीज का नाश नहीं है और उलटा फलरूप दोष भी नहीं है, बल्कि इस कर्मयोग रूप धर्म का थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्यु रूप महान् भय से रक्षा कर लेता है।

व्यवसायात्मिका बुद्धि- रेकेह कुरुनन्दन ।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च, बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ 41॥

हे अर्जुन! इस कर्मयोग में निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है, किन्तु अस्थिर विचार वाले विवेकहीन सकाम मनुष्यों की बुद्धियाँ निश्चय ही बहुत भेदों वाली और अनन्त होती हैं।

यामिमां(म्) पुष्पितां(वँ) वाचं(म्), प्रवदन्त्यविपश्चितः ।

वेदवादरताः(फ्) पार्थ, नान्यदस्तीति वादिनः ॥42॥

हे अर्जुन! जो कर्मफल के प्रशंसक वेदवाक्यों में ही प्रीति रखते हैं,वे अविवेकी जन इस प्रकार की जिस पुष्पित (दिखाऊ शोभा युक्त) वाणी को कहा करते हैं- कि अन्य कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं.....

कामात्मानः(स्) स्वर्गपरा, जन्मकर्मफलप्रदाम् ।

क्रियाविशेषबहुलां(म्), भोगैश्वर्यगतिं(म्) प्रति ॥43॥

जो भोगों में तन्मय हो रहे हैं, जिनकी बुद्धि में स्वर्ग ही परम प्राप्य वस्तु है। जन्म रूप कर्म फल देने वाली एवं भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार की बहुत सी क्रियाओं का वर्णन करने वाली है।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां(न्), तयापहृतचेतसाम् ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः(स्), समाधौ न विधीयते ॥44॥

उस वाणी द्वारा जिनका चित्त हर लिया गया है, जो भोग और ऐश्वर्य में अत्यन्त आसक्त हैं, उन पुरुषों की परमात्मा में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती।

त्रैगुण्यविषया वेदा, निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो, निर्योगक्षेम आत्मवान् । 45॥

हे अर्जुन! वेद उपर्युक्त प्रकार से तीनों गुणों के कार्य रूप समस्त भोगों एवं उनके साधनों का प्रतिपादन करने वाले हैं, इसलिए तू उन भोगों एवं उनके साधनों में आसक्तिहीन, हर्ष-शोकादि द्वंद्वों से रहित, नित्यवस्तु परमात्मा में स्थित योग- क्षेम को न चाहने वाला और स्वाधीन अन्तःकरण वाला हो।

यावानर्थ उदपाने, सर्वतः(स्) सम्प्लुतोदके ।

तावान्सर्वेषु वेदेषु, ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ 46 ॥

सब ओर से परिपूर्ण जलाशय के प्राप्त हो जाने पर छोटे जलाशय में मनुष्य का जितना प्रयोजन रहता है, ब्रह्म को तत्व से जानने वाले ब्राह्मण का समस्त वेदों में उतना ही प्रयोजन रह जाता है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्- मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ 47॥

तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, उसके फलों में कभी नहीं। इसलिए तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो।

योगस्थः(ख्) कुरु कर्माणि, सङ्गं(न्) त्यक्त्वा धनञ्जय ।

सिद्ध्यसिद्ध्योः(स्) समो भूत्वा, समत्वं(यँ) योग उच्यते ॥ 48॥

हे धनंजय! तू आसक्ति को त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धिवाला होकर योग में स्थित हुआ कर्तव्य कर्मों को कर, समत्व ही योग कहलाता है।

दूरेण ह्यवरं(ङ्) कर्म, बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।

बुद्धौ शरणमन्विच्छ, कृपणाः(फ्) फलहेतवः ॥ 49॥

इस समत्वरूप बुद्धियोग से सकाम कर्म अत्यन्त ही निम्न श्रेणी का है। इसलिए हे धनंजय! तू समबुद्धि में ही रक्षा का उपाय ढूँढ अर्थात् बुद्धियोग का ही आश्रय ग्रहण कर क्योंकि फल के हेतु बनने वाले अत्यन्त दीन हैं।

बुद्धियुक्तो जहातीह, उभे सुकृतदुष्कृते ।

तस्माद्योगाय युज्यस्व, योगः(ख्) कर्मसु कौशलम् ॥ 50॥

समबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनों को इसी लोक में त्याग देता है अर्थात् उनसे मुक्त हो जाता है। इससे तू समत्व रूप योग में लग जा, यह समत्व रूप योग ही कर्मों में कुशलता है अर्थात् कर्मबंध से छूटने का उपाय है।

कर्मजं(म्) बुद्धियुक्ता हि, फलं(न्) त्यक्त्वा मनीषिणः ।

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः(फ्), पदं(ङ्) गच्छन्त्यनामयम् ॥ 51॥

क्योंकि समबुद्धि से युक्त ज्ञानीजन कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल को त्यागकर जन्मरूप बंधन से मुक्त होकर निर्विकार परम पद को प्राप्त हो जाते हैं।

यदा ते मोहकलिलं(म्), बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्वेदं(म्), श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ 52॥

जिस काल में तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदल को भलीभाँति पार कर जाएगी, उस समय तू सुने हुए और सुनने में आने वाले इस लोक और परलोक संबंधी सभी भोगों से वैराग्य को प्राप्त हो जाएगा।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते, यदा स्थास्यति निश्चला ।

समाधावचला बुद्धिस्- तदा योगमवाप्स्यसि ॥ 53॥

भाँति-भाँति के वचनों को सुनने से विचलित हुई तेरी बुद्धि जब परमात्मा में अचल और स्थिर ठहर जाएगी, तब तू योग को प्राप्त हो जाएगा अर्थात् तेरा परमात्मा से नित्य संयोग हो जाएगा।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव ।

स्थितधीः(ख्) किं(म्) प्रभाषेत, किमासीत व्रजेत किम् ॥ 54॥

अर्जुन बोले- हे केशव! समाधि में स्थित परमात्मा को प्राप्त हुए स्थिरबुद्धि पुरुष का क्या लक्षण है? वह स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है ?

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्- सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः(स्), स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ 55॥

श्री भगवान् बोले- हे अर्जुन! जिस काल में यह पुरुष मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को भलीभाँति त्याग देता है और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, उस काल में वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः(स्), सुखेषु विगतस्पृहः ।

वीतरागभयक्रोधः(स्), स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ 56॥

दुःखों की प्राप्ति होने पर जिसके मन में उद्वेग नहीं होता, सुखों की प्राप्ति में सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गए हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है।

यः(स्) सर्वत्रानभिस्नेहस्- तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ 57॥

जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तु को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है।

यदा सं(म्)हरते चायं(ङ्), कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्- तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ 58॥

और कछुआ सब ओर से अपने अंगों को जैसे समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों को सब प्रकार से हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर है।

विषया विनिवर्तन्ते, निराहारस्य देहिनः ।

रसवर्जं(म्) रसोऽप्यस्य, परं(न्) दृष्ट्वा निवर्तते ॥ 59॥

इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण न करने वाले पुरुष के भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु उनमें रहने वाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती। इस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी तो आसक्ति भी परमात्मा का साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है।

यततो ह्यपि कौन्तेय, पुरुषस्य विपश्चितः ।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि, हरन्ति प्रसभं(म्) मनः ॥ 60॥

हे अर्जुन! आसक्ति का नाश न होने के कारण ये प्रमथनस्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान पुरुष के मन को भी बलात् हर लेती हैं।

तानि सर्वाणि सं(यँ)यम्य, युक्त आसीत मत्परः ।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ 61॥

इसलिए साधक को चाहिए कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके समाहित चित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यान में बैठे क्योंकि जिस पुरुष की इन्द्रियाँ वश में होती हैं, उसी की बुद्धि स्थिर हो जाती है।

ध्यायतो विषयान्पुं(म्)सः(स्), सङ्गस्तेषूपजायते ।

सङ्गात्संजायते कामः(ख्), कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ 62॥

विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है और कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है।

क्रोधाद्भवति सम्मोहः(स्), सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रं(म्)शाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ 63॥

क्रोध से अत्यन्त मूढ़ भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ़ भाव से स्मृति में भ्रम हो जाता है, स्मृति में भ्रम हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश हो जाने से यह पुरुष अपनी स्थिति से गिर जाता है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु, विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा, प्रसादमधिगच्छति ॥ 64॥

परंन्तु अपने अधीन किए हुए अन्तःकरण वाला साधक अपने वश में की हुई, राग-द्वेष रहित इन्द्रियों द्वारा विषयों में विचरण करता हुआ अन्तःकरण की प्रसन्नता को प्राप्त होता है।

प्रसादे सर्वदुःखानां(म्), हानिरस्योपजायते ।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु, बुद्धिः(फ्) पर्यवतिष्ठते ॥ 65॥

अन्तःकरण की प्रसन्नता होने पर इसके सम्पूर्ण दुःखों का अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्त वाले कर्मयोगी की बुद्धि शीघ्र ही सब ओर से हटकर एक परमात्मा में ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य, न चायुक्तस्य भावना ।

न चाभावयतः(श्) शान्ति- रशान्तस्य कुतः(स्) सुखम् ॥ 66॥

न जीते हुए मन और इन्द्रियों वाले पुरुष में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और उस अयुक्त मनुष्य के अन्तःकरण में भावना भी नहीं होती तथा भावनाहीन मनुष्य को शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित मनुष्य को सुख कैसे मिल सकता है ?

इन्द्रियाणां(म्) हि चरतां(यँ), यन्मनोऽनुविधीयते ।

तदस्य हरति प्रज्ञां(वँ), वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ 67॥

क्योंकि जैसे जल में चलने वाली नाव को वायु हर लेती है, वैसे ही विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों में से मन जिस इन्द्रिय के साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुष की बुद्धि को हर लेती है।

तस्माद्यस्य महाबाहो, निगृहीतानि सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्-तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ 68॥

इसलिए हे महाबाहो! जिस पुरुष की इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषयों में सब प्रकार निग्रह की हुई हैं, उसी की बुद्धि स्थिर है।

या निशा सर्वभूतानां(न्), तस्यां(ञ्) जागर्ति सं(यँ)यमी ।

यस्यां(ञ्) जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ 69॥

सम्पूर्ण प्राणियों के लिए जो रात्रि के समान है, उस नित्य ज्ञानस्वरूप परमानन्द की प्राप्ति में स्थितप्रज्ञ योगी जागता है और जिस नाशवान सांसारिक सुख की प्राप्ति में सब प्राणी जागते हैं, परमात्मा के तत्व को जानने वाले मुनि के लिए वह रात्रि के समान है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं(म्),

समुद्रमापः(फ्) प्रविशन्ति यद्वत् ।

तद्वत्कामा यं(म्) प्रविशन्ति सर्वे,

स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ 70॥

जैसे नाना नदियों के जल सब ओर से परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुष में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किए बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्ति को प्राप्त होता है, भोगों को चाहने वाला नहीं।

विहाय कामान्यः(स्) सर्वान्- पुमां(म्)श्चरति निःस्पृहः ।

निर्ममो निरहं(ङ्)कारः(स्), स शान्तिमधिगच्छति ॥ 71॥

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग कर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शांति को प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्ति को प्राप्त है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः(फ्) पार्थ, नैनां(म्) प्राप्य विमुह्यति ।

स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि, ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ 72॥

हे अर्जुन! यह ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष की स्थिति है, इसको प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता और अंतकालमें भी इस ब्राह्मी स्थिति में स्थित होकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त हो जाता है।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे

श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।
ॐ शांतिः(श्)शांतिः(श्)शांतिः ।।

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।

श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता तृतीय अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन,(उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(न्)

तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते, मता बुद्धिर्जनार्दन ।

तत्किं(ङ्) कर्मणि घोरे मां(न्), नियोजयसि केशव ॥ 1 ॥

अर्जुन म्हणाला -हे जनार्दना !जर तुम्हाला करमाहून ज्ञान श्रेष्ठ वाटते ,तर मग हे केशवा !मला भयंकर कर्म करण्यास का प्रवृत्त करीत आहात ?

व्यामिश्रेणेव वाक्येन, बुद्धिं(म्) मोहयसीव मे ।

तदेकं(वँ) वद निश्चित्य, येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ 2 ॥

तुम्ही मिश्रित शाभाषणाने माझ्या बुद्धीला जणू मोहित करीत आहात .म्हणून अशी एकच गोष्ट निश्चित करून मला सांगा की ,ज्यामुळे माझे कल्याण होईल .

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा, पुरा प्रोक्ता मयानघ ।

ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां(ङ्), कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ 3 ॥

श्री भगवान म्हणाले -हे निष्पापा !या जगात दोन प्रकारची निष्ठा माझ्याकडून पूर्वी सांगितली गेली आहे .त्यातील सांख्य योग्यांचीनिष्ठा ज्ञान आयोगाने व योग्यांची निष्ठा कर्म योगाने होते .

न कर्मणामनारम्भान्-नैष्कर्म्यं(म्) पुरुषोऽश्नुते ।

न च सन्न्यसनादेव, सिद्धिं(म्) समधिगच्छति ॥ 4 ॥

मनुष्य कर्मे केल्याशिवाय निष्कर्मतेला म्हणजेच योगनिष्ठा प्राप्त होत नाही आणि कर्माचा फक्त त्याग केल्याने तो सिद्धीला म्हणजेच सांख्यनिष्ठेला प्राप्त होत नाही .

न हि कश्चित्क्षणमपि, जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

कार्यते ह्यवशः(ख्) कर्म, सर्वः(फ्) प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ 5 ॥

निःसंशयपणेकोणीही मनुष्य कोणत्याही वेळी क्षणभर सुद्धा काम न करता राहात नाही.कारण सर्व मनुष्य समुदाय प्रकृती पासून उत्पन्न झालेल्या गुणांमुळे पराधीन असल्यामुळे कर्म करायला भाग पाडला जातो .

कर्मेन्द्रियाणि सं(यँ)यम्य, य आस्ते मनसा स्मरन् ।

इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा, मिथ्याचारः(स्) स उच्यते ॥ 6 ॥

जो मूर्ख मनुष्य सर्व इंद्रिये बळेच वर वर आवरून मनाने त्या इंद्रियांच्या विषयांचे चिंतन करीत राहतो ,तो मिथ्याचारी म्हणजे दांभिक म्हटला जातो .

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा, नियम्यारभतेऽर्जुन ।

कर्मेन्द्रियैः(ख्) कर्मयोग-मसक्तः(स्) स विशिष्यते ॥ 7 ॥

परंतु हे अर्जुना !जो मनुष्य मनाने इंद्रियांना ताब्यात ठेवून अशक्त न होता सर्व इंद्रियांच्या द्वारा कर्मयोगाचे आचरण करतो ,तो श्रेष्ठ होय .

नियतं(ङ्) कुरु कर्म त्वं(ङ्), कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।

शरीरयात्रापि च ते, न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ 8 ॥

तू शास्त्र विहित कर्तव्य कर्म कर .कारण कर्म न करण्यापेक्षा कर्म करणे श्रेष्ठ आहे .तसेच कर्म न करण्याने तुझे शरीर व्यवहार ही चालणार नाही त .

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र, लोकोऽयं(ङ्) कर्मबन्धनः ।

तदर्थं(ङ्) कर्म कौन्तेय, मुक्तसं(ङ्)गः(स्) समाचर ॥ 9 ॥

यज्ञा निमित्त केल्या जाणाऱ्या कर्मांशिवाय दुसऱ्या करमात गुंतलेला हा मनुष्य समुदायक मॉनी बांधला जातो .म्हणून हे अर्जुना !तू असती सोडून यज्ञासाठी उत्तम प्रकारे कर्तव्य कर्म कर .

सहयज्ञाः(फ्) प्रजाः(स्) सृष्ट्वा, पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्व-मेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ 10 ॥

प्रजापती ब्रह्मदेवाने कल्पारंभी यज्ञासह प्रजा उत्पन्न करून त्यांना सांगितले की 'तुम्ही या यज्ञाच्या द्वारा उत्कर्ष करून घ्या आणि हा यज्ञ तुमचे इच्छित मनोरथ पूर्ण करणारा होवो .

देवान्भावयतानेन, ते देवा भावयन्तु वः ।

परस्परं(म्) भावयन्तः(श्), श्रेयः(फ्) परमवाप्स्यथ ॥ 11 ॥

तुम्ही या यज्ञाने देवतांची पुष्टी करा आणि त्या देवतांनी तुम्हाला पुष्ट करावे .अशा प्रकारे निस्वार्थीपणाने एकमेकांची उन्नती करीत तुम्ही परम कल्याणाला प्राप्त व्हाल .

इष्टान्भोगान्हि वो देवा, दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो, यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ 12 ॥

यज्ञाने पुष्ट झालेल्या देवता तुम्हाला न मागताही इच्छित भोग खात्रीने देत राहतील .अशा रीतीने त्या देवतांनी दिलेले भोग त्यांना अर्पण न करता जो पुरुष स्वतः खातो ,तो चोरच होय .

यज्ञशिष्टाशिनः(स्) सन्तो, मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।

भुञ्जते ते त्वघं(म्) पापा, ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ 13 ॥

यज्ञ करून शिल्लक राहिलेले अन्न खाणारे श्रेष्ठ पुरुष सर्व पापांपासून मुक्त होतात .पण जे पापी लोक स्वतःच्या शरीर -पोषणासाठी अन्न शिजवतात ,ते तर पापच खातात .

अन्नाद्भवन्ति भूतानि, पर्जन्यादन्नसम्भवः ।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो, यज्ञः(ख्) कर्मसमुद्भवः ॥ 14 ॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं(वँ) विद्धि, ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।

तस्मात्सर्वगतं(म्) ब्रह्म, नित्यं(यँ) यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ 15 ॥

सर्व प्राणी अन्नापासून उत्पन्न होतात .अन्न निर्मिती पावसापासून होते .पाऊस यज्ञामुळे पडतो आणि यज्ञविहितकर्मामुळे घडतो .कर्म समुदाय वेदांपासून व वेद अविनाशी परमात्म्यापासून उत्पन्न झालेले आहेत ,असे समज .यावरून हेच सिद्ध होते की,सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा नेहमीच यज्ञात प्रतिष्ठित असतो .

एवं(म्) प्रवर्तितं(ञ्) चक्रं(न्), नानुवर्तयतीह यः ।

अघायुरिन्द्रियारामो, मोघं(म्) पार्थ स जीवति ॥ 16 ॥

हे पार्था !जो पुरुष या जगात अशा प्रकारे परंपरेने चालू असलेल्या सृष्टीचक्राला अनुसरून वागत नाही ,म्हणजेच आपल्या कर्तव्याचे पालन करीत नाही,तो इंद्रियांच्या द्वारा भोगात रमणारा पापी आयुष्य असलेला पुरुष व्यर्थ जगतो .

यस्त्वात्मरतिरेव स्या-दात्मतृप्तश्च मानवः ।

आत्मन्येव च सन्तुष्टस्-तस्य कार्यं(न्) न विद्यते ॥ 17 ॥

परंतु जो मनुष्य आत्म्यातच रमणारा,आत्म्यातच तृप्त आणि आत्म्याचा संतुष्ट असतो,त्याला कोणतेच कर्तव्य उरत नाही .

नैव तस्य कृतेनार्थो, नाकृतेनेह कश्चन ।

न चास्य सर्वभूतेषु, कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ 18 ॥

त्या महापुरुषाला या विश्वात कर्मे करण्याने काही प्रयोजन असत नाही .तसेच कर्मे न करण्याने ही काही प्रयोजन असत नाही .तसेच सर्व प्राणीमात्रातही त्याचा जरा देखील स्वार्थाचा संबंध असत नाही .

तस्मादसक्तः(स्) सततं(ङ्), कार्यं(ङ्) कर्म समाचर ।

असक्तो ह्याचरन्कर्म, परमाप्नोति पूरुषः ॥ 19 ॥

म्हणून तू नेहमी अशक्त न होता कर्तव्य कर्म नीट करीत रहा .कारण असती सोडून कर्म करणारा मनुष्य परमात्म्याला जाऊन मिळतो .

कर्मणैव हि सं(म्)सिद्धि-मास्थिता जनकादयः ।

लोकसं(ङ्)ग्रहमेवापि, सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ 20 ॥

जनकाधी ज्ञानी लोकही आसक्तिरहितकर्मानेच परमसिद्धीला प्राप्त झाले होते .म्हणून तसेच लोकसंग्रहाकडे दृष्टी देऊन देखील तू कर्म करणे च योग्य .

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्-तत्तदेवेतरो जनः ।

स यत्प्रमाणं(ङ्) कुरुते, लोकस्तदनुवर्तते ॥ 21 ॥

श्रेष्ठ पुरुष जे जे आचरण करतो ,त्या त्याप्रमाणेच इतर लोकही आचरण करतात .तो जे काही प्रमाण म्हणून सांगतो ,त्याप्रमाणेच सर्व मनुष्य समुदाय वागू लागतो .

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं(न्), त्रिषु लोकेषु किं(ञ्)चन ।

नानवाप्तमवाप्तव्यं(वँ), वर्त एव च कर्मणि ॥ 22 ॥

हे अर्जुना ! मला या तिन्ही लोकांतकाहीही कर्तव्य नाही आणि मिळवण्याजोगी कोणतीही वस्तू मिळाली नाही ,असे नाही .तरीही मी कर्म करीतच असतो .

यदि ह्यहं(न्) न वर्तेयं(ञ्), जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते, मनुष्याः(फ्) पार्थ सर्वशः ॥ 23 ॥

कारण हे पार्था !जर का मी सावध राहून करणे केली नाहीत ,तर मोठे नुकसान होईल .कारण मनुष्य सर्व प्रकारे माझ्याच मार्गाचे अनुसरण करतात .

उत्सीदेयुरिमे लोका, न कुर्यां(ङ्) कर्म चेदहम् ।

सं(ङ्)करस्य च कर्ता स्या-मुपहन्यामिमाः(फ्) प्रजाः ॥ 24 ॥

म्हणून जर मी कर्म केले नाही ,तर ही सर्व माणसे नष्ट भ्रष्ट होतील आणि मी संकरतेचे कारण होईन .तसेच या सर्व प्रजेचा घात करणारा होईन .

सक्ताः(ख्) कर्मण्यविद्वां(म्)सो, यथा कुर्वन्ति भारत ।

कुर्याद्विद्वां(म्)स्तथासक्तश्-चिकीर्षुर्लोकसं(ङ्)ग्रहम् ॥ 25 ॥

हे भारता ! कर्मांतआसक्त असलेले अज्ञानी लोक ज्या रीतीने कर्मेंकरतात ,त्याच रीतीने आसक्ती नसलेल्या विद्वानाने ही लोकसंग्रह करण्याच्या इच्छेने कर्म करावीत .

न बुद्धिभेदं(ञ्) जनये-दज्ञानां(ङ्) कर्मसङ्गिनाम् ।

जोषयेत्सर्वकर्माणि, विद्वान्युक्तः(स्) समाचरन् ॥ 26 ॥

परमात्मा स्वरूपात स्थिर असलेल्या स्थिर असलेल्या ज्ञानी पुरुषाने शास्त्र विहित कर्मांत आसक्ती असलेल्या अज्ञानी लोकांच्या बुद्धीत भ्रम म्हणजेच कर्मा विषयी अश्रद्धा निर्माण करू नये .उलट स्वतः शास्त्र विहित सर्व कर्म उत्तम प्रकारे करीत त्यांच्याकडूनही तशीच करून घ्यावी .

प्रकृतेः(ख्) क्रियमाणानि, गुणैः(ख्) कर्माणि सर्वशः ।

अहं(ङ्)कारविमूढात्मा, कर्ताहमिति मन्यते ॥ 27 ॥

वास्तविक सर्व कर्मे सर्व प्रकारे प्रकृतीच्या गुणांमार्फत केली जातात .तरीही ज्याचे अंत :करण अहंकाराने मोहित झाले आहे ,असा अज्ञानी पुरुष मी कर्ता आहे ' असे मानतो .

तत्त्ववित्तु महाबाहो, गुणकर्मविभागयोः ।

गुणा गुणेषु वर्तन्त, इति मत्वा न सज्जते ॥ 28 ॥

पण हे महाबाहो !गुणविभाग आणि कर्म विभाग यांचे तत्त्व जाणणारा ज्ञानयोगी सर्व गुणच गुणांत वावरत असतात ,हे लक्षात घेऊन त्यामध्ये अशक्त होत नाही .

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः(स्), सज्जन्ते गुणकर्मसु ।

तानकृत्स्नविदो मन्दान्-कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ 29 ॥

प्रकृतीच्या गुणांनी अत्यंत मोहित झालेली माणसे गुणांत आणि कर्मांत आसक्त होतात . त्या चांगल्या रीतीने न जाणाऱ्या मंदबुद्धीच्या अज्ञान्यांचा पूर्ण ज्ञान असणाऱ्या ज्ञान्यानेबुद्धिभेद करू नये .

मयि सर्वाणि कर्माणि, सं(न्)न्यस्याध्यात्मचेतसा ।

निराशीर्निर्ममो भूत्वा, युध्यस्व विगतज्वरः ॥ 30 ॥

अंतर्यामी मज परमात्म्यामध्ये गुंतलेल्या चित्ताने सर्व करणे मला समर्पण करून आशा ,ममता व संताप रहित होऊन तू युद्ध कर .

ये मे मतमिदं(न्) नित्य-मनुतिष्ठन्ति मानवाः ।

श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो, मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ 31 ॥

जे कोणी मानव दोषदृष्टी टाकून श्रद्धायुक्त अंतःकरणाने माझ्या या मताचे नेहमी अनुसरण करतात ,तेही सर्व कर्मांपासून मुक्त होतात .

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो, नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।

सर्वज्ञानविमूढांं(म्)स्तान्-विद्धि नष्टानचेतसः ॥ 32 ॥

परंतु ,जे मानव माझ्यावर दोषारोप करून माझ्या या मतानुसार वागत नाहीत ,त्या मूर्खांना तू सर्व ज्ञानांना मुकलेले आणि नष्ट झालेलेच समज .

सदृशं(ञ्) चेष्टते स्वस्याः(फ्), प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।

प्रकृतिं(यँ) यान्ति भूतानि, निग्रहः(ख्) किं(ङ्) करिष्यति ॥ 33 ॥

सर्व प्राणी प्रकृतीच्या वळणावर जातात म्हणजेच आपल्या स्वभावाच्या अधीन होऊन कर्मे करतात .ज्ञानी सुद्धा आपल्या स्वभावानुसारच व्यवहार करतो .मग या विषयांत कोणाचाही हट्टीपणा काय करेल ?

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे, रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।

तयोर्न वशमागच्छेत्-तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ 34 ॥

प्रत्येक इंद्रियाचे इंद्रियाच्या विषयात राग व द्वेष लपलेले असतात .माणसाने त्या दोहोंच्या आहारी जाता कामा नये .कारण ते दोन्हीही त्याच्या कल्याण मार्गात विघ्न करणारे मोठे शत्रू आहेत .

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः(फ्), परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

स्वधर्मे निधनं(म्) श्रेयः(फ्), परधर्मो भयावहः ॥ 35 ॥

चांगल्या प्रकारे आचरणात आणलेल्या दुसऱ्याच्या धर्माहुन गुण रहित असला तरी आपला धर्म अतिशय उत्तम आहे .आपल्या धर्मात तर मरणे ही कल्याणकारक आहे .पण दुसऱ्याचा धर्म भय देणारा आहे .

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं(म्), पापं(ञ्) चरति पूरुषः ।

अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय, बलादिव नियोजितः ॥ 36 ॥

अर्जुन म्हणाला -हे कृष्णा !तर मग हा मनुष्य स्वतःची इच्छा नसतानाही जबरदस्तीने करावयास लावल्याप्रमाणे कोणाच्या प्रेरणेने पापाचे आचरण करतो ?

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष, रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा, विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ 37 ॥

श्री भगवान म्हणाले - रजोगुणापासूनउत्पन्न झालेला हा कामच क्रोध आहे .हा खूप खादाड अर्थात भोगांनी कधी ही तृप्त न होणारा व मोठा पापी आहे .हाच या विषयातील वैरी आहे ,असे तु जाण .

धूमेनाव्रियते वह्निर्-यथादर्शो मलेन च।

यथोल्बेनावृतो गर्भस्-तथा तेनेदमावृतम् ॥ 38 ॥

ज्याप्रमाणे धुराने अग्नी ,धुळीने आरसा आणि वारेने गर्भझाकला जातो ,त्याचप्रमाणे त्या कामामुळे हे ज्ञान अच्छादित राहते .

आवृतं(ञ्) ज्ञानमेतेन, ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।

कामरूपेण कौन्तेय, दुष्पूरेणानलेन च ॥ 39 ॥

आणि हे अर्जुना !कधीही तृप्त न होणारा हा का मरूप अग्नी ज्ञानी माणसाचा कायमचा शत्रू आहे .त्याने माणसांचे ज्ञान झाकले आहे .

इन्द्रियाणि मनो बुद्धि-रस्याधिष्ठानमुच्यते ।

एतैर्विमोहयत्येष, ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ 40 ॥

इंद्रिये ,मन आणि बुद्धी ही याचे निवासस्थान म्हटली जातात .हा काम या मन ,बुद्धी आणि इंद्रियांच्या द्वारा ज्ञानाला आच्छादित करून जिवात्म्यालामोहित करतो .

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ, नियम्य भरतर्षभ ।

पाप्मानं(म्) प्रजहि ह्येनं(ञ्), ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ 41 ॥

म्हणून हे अर्जुना !तू प्रथम इंद्रियांवर ताबा ठेवून या ज्ञान आणि विज्ञान यांचा नाश करणाऱ्या ,मोठ्या पापी कामाला अवश्य बळेच मारून टाक .

इन्द्रियाणि पराण्याहु-रिन्द्रियेभ्यः(फ्) परं(म्) मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्-यो बुद्धेः(फ्) परतस्तु सः ॥ 42 ॥

इंद्रियांना स्थूल शरीराहून पर म्हणजे श्रेष्ठ ,बलवान आणि सूक्ष्म म्हटले जाते .या इंद्रियांहून मन पर आहे .मनाहून बुद्धी पर आहे .आणि जो बुद्धी हूनही अत्यंत पर आहे ,तो आत्मा होय .

एवं(म्) बुद्धेः(फ्) परं(म्) बुद्धवा, सं(म्)स्तभ्यात्मानमात्मना ।

जहि शत्रुं(म्) महाबाहो, कामरूपं(न्) दुरासदम् ॥ 43 ॥

अशाप्रकारे बुद्धीहून पर अर्थात सूक्ष्म ,बलवान व अत्यंत श्रेष्ठ असा आत्मा आहे,हे जाणून आणि बुद्धीच्या द्वारा मनाला स्वाधीन करून हे महाबाहो !तू या का मरूप अजिंक्य शत्रूला मारून टाक .

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ)

योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसं(वँ)वादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

ॐ शांतिः(श्)शांतिः(श्)शांतिः।।

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।

श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता चतुर्थ अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(ञ्)

चतुर्थोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इमं(वँ) विवस्वते योगं(म्), प्रोक्तवानहमव्ययम् ।

विवस्वान्मनवे प्राह, मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ 1 ॥

श्री भगवान बोले- मैंने इस अविनाशी योग को सूर्य से कहा था, सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु से कहा और मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु से कहा ।

एवं(म्) परम्पराप्राप्त- मिमं(म्) राजर्षयो विदुः ।

स कालेनेह महता, योगो नष्टः(फ्) परन्तप ॥ 2 ॥

हे परन्तप अर्जुन! इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षियों ने जाना, किन्तु उसके बाद वह योग बहुत काल से इस पृथ्वी लोक में लुप्तप्राय हो गया ।

स एवायं(म्) मया तेऽद्य, योगः(फ्) प्रोक्तः(फ्) पुरातनः ।

भक्तोऽसि मे सखा चेति, रहस्यं(म्) ह्येतदुत्तमम् ॥ 3 ॥

तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिए वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझको कहा है क्योंकि यह बड़ा ही उत्तम रहस्य है अर्थात् गुप्त रखने योग्य विषय है ।

अर्जुन उवाच

अपरं(म्) भवतो जन्म, परं(ञ्) जन्म विवस्वतः ।

कथमेतद्विजानीयां(न्), त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ 4 ॥

अर्जुन बोले- आपका जन्म तो अर्वाचीन-अभी हाल का है और सूर्य का जन्म बहुत पुराना है अर्थात् कल्प के आदि में हो चुका था; तब मैं इस बात को कैसे समूझँ कि आप ही ने कल्प के आदि में सूर्य से यह योग कहा था?

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि, जन्मानि तव चार्जुन ।

तान्यहं(वँ) वेद सर्वाणि, न त्वं(वँ) वेत्थ परन्तप ॥ 5 ॥

श्री भगवान बोले- हे परंतप अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं। उन सबको तू नहीं जानता, किन्तु मैं जानता हूँ ।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा, भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।

प्रकृतिं(म्) स्वामधिष्ठाय, सम्भवाम्यात्ममायया ॥ 6 ॥

मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी योगमाया से प्रकट होता हूँ ।

यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं(म्) सृजाम्यहम् ॥ 7 ॥

हे भारत! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात् साकार रूप से लोगों के सम्मुख प्रकट होता हूँ ।

परित्राणाय साधूनां(वँ), विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसं(म्)स्थापनार्थाय, सम्भवामि युगे युगे ॥ 8 ॥

साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए, पाप कर्म करने वालों का विनाश करने के लिए और धर्म की अच्छी तरह से स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट हुआ करता हूँ ।

जन्म कर्म च मे दिव्य- मेवं(यँ) यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा देहं(म्) पुनर्जन्म, नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ 9 ॥

हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं- इस प्रकार जो मनुष्य तत्व से जान लेता है, वह शरीर को त्याग कर फिर जन्म को प्राप्त नहीं होता, किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है ।

वीतरागभयक्रोधा, मन्मया मामुपाश्रिताः ।

बहवो ज्ञानतपसा, पूता मद्भावमागताः ॥ 10 ॥

पहले भी- जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गए थे और जो मुझ में अनन्य प्रेमपूर्वक स्थित रहते थे, ऐसे मेरे आश्रित रहने वाले बहुत से भक्त उपर्युक्त ज्ञान रूप तप से पवित्र होकर मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं ।

ये यथा मां(म्) प्रपद्यन्ते, तां(म्)स्तथैव भजाम्यहम् ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते, मनुष्याः(फ्) पार्थ सर्वशः ॥ 11 ॥

हे अर्जुन! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं ।

काङ्क्षन्तः(ख्) कर्मणां(म्) सिद्धिं(यँ), यजन्त इह देवताः ।

क्षिप्रं(म्) हि मानुषे लोके, सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ 12 ॥

इस मनुष्य लोक में कर्मों के फल को चाहने वाले लोग देवताओं का पूजन किया करते हैं क्योंकि उनको कर्मों से उत्पन्न होने वाली सिद्धि शीघ्र मिल जाती है ।

चातुर्वर्ण्यं(म्) मया सृष्टं(ङ्), गुणकर्मविभागशः ।

तस्य कर्तारमपि मां(वँ), विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ 13 ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र- इन चार वर्णों का समूह, गुण और कर्मों के विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है। इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्म का कर्ता होने पर भी मुझ अविनाशी परमेश्वर को तू वास्तव में अकर्ता ही जान ।

न मां(ङ्) कर्माणि लिम्पन्ति, न मे कर्मफले स्पृहा ।

इति मां(यँ) योऽभिजानाति, कर्मभिर्न स बध्यते ॥ 14 ॥

कर्मों के फल में मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिए मुझे कर्म लिप्त नहीं करते- इस प्रकार जो मुझे तत्व से जान लेता है, वह भी कर्मों से नहीं बँधता ।

एवं(ञ्) ज्ञात्वा कृतं(ङ्) कर्म, पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं(म्), पूर्वैः(फ्) पूर्वतरं(ङ्) कृतम् ॥ 15 ॥

पूर्वकाल में मुमुक्षुओं ने भी इस प्रकार जानकर ही कर्म किए हैं, इसलिए तू भी पूर्वजों द्वारा सदा से किए जाने वाले कर्मों को ही कर ।

किं(ङ्) कर्म किमकर्मेति, कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।

तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि, यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ 16 ॥

कर्म क्या है? और अकर्म क्या है? इस प्रकार इसका निर्णय करने में बुद्धिमान पुरुष भी मोहित हो जाते हैं। इसलिए वह कर्मतत्व मैं तुझे भलीभाँति समझाकर कहूँगा, जिसे जानकर तू अशुभ से अर्थात् कर्मबंधन से मुक्त हो जाएगा ।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं(म्), बोद्धव्यं(ञ्) च विकर्मणः ।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं(ङ्), गहना कर्मणो गतिः ॥ 17 ॥

कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए और अकर्मण का स्वरूप भी जानना चाहिए तथा विकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए क्योंकि कर्म की गति गहन है ।

कर्मण्यकर्म यः(फ्) पश्ये-दकर्मणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान्मनुष्येषु, स युक्तः(ख्) कृत्स्नकर्मकृत् ॥ 18 ॥

जो मनुष्य कर्म में अकर्म देखता है और जो अकर्म में कर्म देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान है और वह योगी समस्त कर्मों को करने वाला है ।

यस्य सर्वे समारम्भाः(ख्), कामसङ्कल्पवर्जिताः ।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं(न्), तमाहुः(फ्) पण्डितं(म्) बुधाः ॥ 19 ॥

जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना और संकल्प के होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्नि द्वारा भस्म हो गए हैं, उस महापुरुष को ज्ञानीजन भी पंडित कहते हैं॥19॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं(न्), नित्यतृप्तो निराश्रयः ।

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि, नैव किञ्चित्करोति सः ॥ 20 ॥

जो पुरुष समस्त कर्मों में और उनके फल में आसक्ति का सर्वथा त्याग करके संसार के आश्रय से रहित हो गया है और परमात्मा में नित्य तृप्त है, वह कर्मों में भलीभाँति बरतता हुआ भी वास्तव में कुछ भी नहीं करता ।

निराशीर्यतचित्तात्मा, त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।

शारीरं(ङ्) केवलं(ङ्) कर्म, कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ 21 ॥

जिसका अंतःकरण और इन्द्रियों सहित शरीर जीता हुआ है और जिसने समस्त भोगों की सामग्री का परित्याग कर दिया है, ऐसा आशारहित पुरुष केवल शरीर-संबंधी कर्म करता हुआ भी पापों को नहीं प्राप्त होता ।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो, द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।

समः(स्) सिद्धावसिद्धौ च, कृत्वापि न निबध्यते ॥ 22॥

जो बिना इच्छा के अपने-आप प्राप्त हुए पदार्थ में सदा संतुष्ट रहता है, जिसमें ईर्ष्या का सर्वथा अभाव हो गया हो, जो हर्ष-शोक आदि द्वंद्वों से सर्वथा अतीत हो गया है- ऐसा सिद्धि और असिद्धि में सम रहने वाला कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी उनसे नहीं बँधता ।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य, ज्ञानावस्थितचेतसः ।

यज्ञायाचरतः(ख्) कर्म, समग्रं(म्) प्रविलीयते ॥ 23॥

जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गई है, जो देहाभिमान और ममता से रहित हो गया है, जिसका चित्त निरन्तर परमात्मा के ज्ञान में स्थित रहता है- ऐसा केवल यज्ञसम्पादन के लिए कर्म करने वाले मनुष्य के सम्पूर्ण कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं ।

ब्रह्मार्पणं(म्) ब्रह्म हविर्-ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं(म्), ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ 24॥

जिस यज्ञ में अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किए जाने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ता द्वारा ब्रह्मरूप अग्नि में आहुति देना रूप क्रिया भी ब्रह्म है- उस ब्रह्मकर्म में स्थित रहने वाले योगी द्वारा प्राप्त किए जाने योग्य फल भी ब्रह्म ही हैं ।

दैवमेवापरे यज्ञं(यँ), योगिनः(फ्) पर्युपासते ।

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं(यँ), यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ 25॥

दूसरे योगीजन देवताओं के पूजनरूप यज्ञ का ही भलीभाँति अनुष्ठान किया करते हैं और अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्नि में अभेद दर्शनरूप यज्ञ द्वारा ही आत्मरूप यज्ञ का हवन किया करते हैं ।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये, सं(यँ)यमाग्निषु जुह्वति।

शब्दादीन्विषयानन्य, इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ 26॥

अन्य योगीजन श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियों को संयम रूप अग्नियों में हवन किया करते हैं और दूसरे योगी लोग शब्दादि समस्त विषयों को इन्द्रिय रूप अग्नियों में हवन किया करते हैं ।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि, प्राणकर्माणि चापरे ।

आत्मसं(यँ)यमयोगाग्नौ, जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ 27 ॥

दूसरे योगीजन इन्द्रियों की सम्पूर्ण क्रियाओं और प्राणों की समस्त क्रियाओं को ज्ञान से प्रकाशित आत्म संयम योगरूप अग्नि में हवन किया करते हैं ।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा, योगयज्ञास्तथापरे ।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च, यतयः(स्) सं(म्)शितव्रताः ॥ 28॥

कई पुरुष द्रव्य संबंधी यज्ञ करने वाले हैं, कितने ही तपस्या रूप यज्ञ करने वाले हैं तथा दूसरे कितने ही योगरूप यज्ञ करने वाले हैं, कितने ही अहिंसादि तीक्ष्णव्रतों से युक्त यत्नशील पुरुष स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करने वाले हैं ।

अपाने जुह्वति प्राणं(म्), प्राणेऽपानं(न्) तथापरे ।

प्राणापानगती रुद्ध्वा, प्राणायामपरायणाः ॥ 29॥

दूसरे कितने ही प्राणायाम परायण पुरुष योगीजन अपान वायु में प्राणवायु को हवन करते हैं, वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायु में अपान वायु को हवन करते हैं ।

अपरे नियताहाराः(फ्), प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो, यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ 30 ॥

कितने ही नियमित आहार करने वाले, प्राण और अपान की गति को रोककर प्राणों को प्राणों में ही हवन किया करते हैं। ये सभी साधक यज्ञों द्वारा पापों का नाश कर देने वाले और यज्ञों को जानने वाले हैं ।

यज्ञशिष्टामृतभुजो, यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।

नायं(लँ) लोकोऽस्त्ययज्ञस्य, कुतोऽन्यः(ख्) कुरुसत्तम ॥ 31॥

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञ से बचे हुए अमृत का अनुभव करने वाले योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं। और यज्ञ न करने वाले पुरुष के लिए तो यह मनुष्यलोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक हो सकता है?

एवं(म्) बहुविधा यज्ञा, वितता ब्रह्मणो मुखे ।

कर्मजान्विद्धि तान्सर्वा-नेवं(ञ्) ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ 32॥

इसी प्रकार और भी बहुत तरह के यज्ञ वेद की वाणी में विस्तार से कहे गए हैं। उन सबको तू मन, इन्द्रिय और शरीर की क्रिया द्वारा सम्पन्न होने वाले जान, इस प्रकार तत्व से जानकर उनके अनुष्ठान द्वारा तू कर्म बंधन से सर्वथा मुक्त हो जाएगा ।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्-ज्ञानयज्ञः(फ्) परन्तप ।

सर्वं(ङ्) कर्माखिलं(म्) पार्थ, ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ 33॥

हे परंतप अर्जुन! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान यज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है तथा यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया ।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं(ञ्), ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ 34॥

उस ज्ञान को तू तत्वदर्शी ज्ञानियों के पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करने से, उनकी सेवा करने से और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करने से वे परमात्म तत्व को भलीभाँति जानने वाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्वज्ञान का उपदेश करेंगे ।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोह-मेवं(यँ) यास्यसि पाण्डव ।

येन भूतान्यशेषेण, द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ 35 ॥

जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोह को नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन! जिस ज्ञान द्वारा तू सम्पूर्ण भूतों को निःशेषभाव से पहले अपने में और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा में देखेगा ।

अपि चेदसि पापेभ्यः(स्), सर्वेभ्यः(फ्) पापकृत्तमः ।

सर्वं(ञ्) ज्ञानप्लवेनैव, वृजिनं(म्) सन्तरिष्यसि ॥ 36 ॥

यदि तू अन्य सब पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है, तो भी तू ज्ञान रूप नौका द्वारा निःसंदेह सम्पूर्ण पाप-समुद्र से भलीभाँति तर जाएगा ।

यथैधां(म्)सि समिद्धोऽग्निर्-भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।

ज्ञानाग्निः(स्) सर्वकर्माणि, भस्मसात्कुरुते तथा ॥ 37 ॥

क्योंकि हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनों को भस्ममय कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्ममय कर देता है ।

न हि ज्ञानेन सदृशं(म्), पवित्रमिह विद्यते ।

तत्स्वयं(यँ) योगसं(म्)सिद्धः(ख्), कालेनात्मनि विन्दति ॥ 38 ॥

इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञान को कितने ही काल से कर्मयोग द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मा में पा लेता है ।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं(न्), तत्परः(स्) सं(यँ)यतेन्द्रियः ।

ज्ञानं(लँ) लब्ध्वा परां(म्) शान्ति-मचिरेणाधिगच्छति ॥ 39 ॥

जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान मनुष्य ज्ञान को प्राप्त होता है तथा ज्ञान को प्राप्त होकर वह बिना विलम्ब के- तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है ।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च, सं(म्)शयात्मा विनश्यति ।

नायं(लँ) लोकोऽस्ति न परो, न सुखं(म्) सं(म्)शयात्मनः ॥ 40 ॥

विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थ से अवश्य भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशययुक्त मनुष्य के लिए न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है ।

योगसन्न्यस्तकर्माणं(ञ्), ज्ञानसञ्छिन्नसं(म्)शयम् ।

आत्मवन्तं(न्) न कर्माणि, निबध्नन्ति धनञ्जय ॥ 41॥

हे धनंजय! जिसने कर्मयोग की विधि से समस्त कर्मों का परमात्मा में अर्पण कर दिया है और जिसने विवेक द्वारा समस्त संशयों का नाश कर दिया है, ऐसे वश में किए हुए अन्तःकरण वाले पुरुष को कर्म नहीं बाँधते ।

तस्मादज्ञानसम्भूतं(म्), हृत्स्थं(ञ्) ज्ञानासिनात्मनः ।

छित्त्वैनं(म्) सं(म्)शयं(यँ) योग-मातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ 42 ॥

इसलिए हे भरतवंशी अर्जुन! तू हृदय में स्थित इस अज्ञानजनित अपने संशय का विवेकज्ञान रूप तलवार द्वारा छेदन करके समत्वरूप कर्मयोग में स्थित हो जा और युद्ध के लिए खड़ा हो जा॥42॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ) योगशास्त्रे

श्रीकृष्णार्जुनसं(वँ)वादे ज्ञानकर्मसन्न्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

ॐ शांतिः(श्) शांतिः(श्) शांतिः।।

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।

श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता पञ्चम अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(म्)

पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

सन्न्यासं(ङ्) कर्मणां(ङ्) कृष्ण, पुनर्योगं(ञ्) च शं(म्)ससि ।

यच्छ्रेय एतयोरेकं(न्), तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ 1 ॥

अर्जुन बोले- हे कृष्ण! आप कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेकी और फिर कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं। इसलिए इन दोनों में से जो एक मेरे लिए भलीभाँति निश्चित कल्याणकारक साधन हो, उसको कहिए।

श्रीभगवानुवाच

सन्न्यासः(ख्) कर्मयोगश्च, निः(श्)श्रेयसकरावुभौ ।

तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्- कर्मयोगो विशिष्यते ॥ 2 ॥

श्री भगवान बोले- कर्म संन्यास और कर्मयोग- ये दोनों ही परम कल्याण के करने वाले हैं, परन्तु उन दोनों में भी कर्म संन्यास से कर्मयोग साधन में सुगम होने से श्रेष्ठ है।

ज्ञेयः(स्) स नित्यसन्न्यासी, यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो, सुखं(म्) बन्धात्प्रमुच्यते ॥ 3 ॥

हे अर्जुन! जो पुरुष न किसी से द्वेष करता है और न किसी की आकांक्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है क्योंकि राग-द्वेषादि द्वंद्वों से रहित पुरुष सुखपूर्वक संसार बंधन से मुक्त हो जाता है।

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः(फ्), प्रवदन्ति न पण्डिताः ।

एकमप्यास्थितः(स्) सम्य-गुभयोर्विन्दते फलम् ॥ 4 ॥

उपर्युक्त संन्यास और कर्मयोग को मूर्ख लोग पृथक्-पृथक् फल देने वाले कहते हैं न कि पण्डितजन, क्योंकि दोनों में से एक में भी सम्यक् प्रकार से स्थित पुरुष दोनों के फलरूप परमात्मा को प्राप्त होता है।

यत्साङ्ख्यैः(फ्) प्राप्यते स्थानं(न्), तद्योगैरपि गम्यते ।

एकं(म्) साङ्ख्यं(ञ्) च योगं(ञ्) च, यः(फ्) पश्यति स पश्यति ॥ 5 ॥

ज्ञान योगियों द्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियों द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसलिए जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोग को फलरूप में एक देखता है, वही यथार्थ देखता है।

सन्न्यासस्तु महाबाहो, दुःखमाप्तुमयोगतः ।

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म, नचिरेणाधिगच्छति ॥ 6 ॥

परन्तु हे अर्जुन! कर्मयोग के बिना संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीर द्वारा होने वाले सम्पूर्ण कर्मों में कर्तापन का त्याग प्राप्त होना कठिन है और भगवत्स्वरूप को मनन करने वाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्मा को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा, विजितात्मा जितेन्द्रियः ।

सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ 7 ॥

जिसका मन अपने वश में है, जो जितेन्द्रिय एवं विशुद्ध अन्तःकरण वाला है और सम्पूर्ण प्राणियों का आत्मरूप परमात्मा ही जिसका आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता।

नैव किञ्चित्करोमीति, युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।

पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्- नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ 8 ॥

तत्व को जानने वाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता है।

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्- नुन्मिषन्निमिषन्नपि ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु, वर्तन्त इति धारयन् ॥ 9 ॥

बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखों को खोलता और मूँदता हुआ भी, सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों में बरत रही हैं- इस प्रकार समझकर निःसंदेह ऐसा मानें कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि, सङ्गं(न्) त्यक्त्वा करोति यः ।

लिप्यते न स पापेन, पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ 10 ॥

जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति को त्याग कर कर्म करता है, वह पुरुष जल से कमल के पत्ते की भाँति पाप से लिप्त नहीं होता।

कायेन मनसा बुद्ध्या, केवलैरिन्द्रियैरपि ।

योगिनः(ख्) कर्म कुर्वन्ति, सङ्गं(न्) त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ 11 ॥

कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीर द्वारा भी आसक्ति को त्याग कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं।

युक्तः(ख्) कर्मफलं(न्) त्यक्त्वा, शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।

अयुक्तः(ख्) कामकारेण, फले सक्तो निबध्यते ॥ 12 ॥

कर्मयोगी कर्मों के फल का त्याग करके भगवत्प्राप्ति रूप शान्ति को प्राप्त होता है और सकामपुरुष कामना की प्रेरणा से फल में आसक्त होकर बँधता है।

सर्वकर्माणि मनसा, सन्न्यस्यास्ते सुखं(वँ) वशी ।

नवद्वारे पुरे देही, नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ 13 ॥

अन्तःकरण जिसके वश में है, ऐसा सांख्य योग का आचरण करने वाला पुरुष न करता हुआ और न करवाता हुआ ही नवद्वारों वाले शरीर रूप घर में सब कर्मों को मन से त्यागकर आनंदपूर्वक सच्चिदानंदघन परमात्मा के स्वरूप में स्थित रहता है।

न कर्तृत्वं(न्) न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः ।

न कर्मफलसं(यँ)योगं(म्), स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ 14 ॥

परमेश्वर मनुष्यों के न तो कर्तापन की, न कर्मों की और न कर्मफल के संयोग की रचना करते हैं, किन्तु

स्वभाव ही बरत रहा है।

नादत्ते कस्यचित्पापं(न्), न चैव सुकृतं(वँ) विभुः ।

अज्ञानेनावृतं(ञ्) ज्ञानं(न्), तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ 15 ॥

सर्वव्यापी परमेश्वर भी न किसी के पाप कर्म को और न किसी के शुभकर्म को ही ग्रहण करता है, किन्तु अज्ञान द्वारा ज्ञान ढका हुआ है, उसी से सब अज्ञानी मनुष्य मोहित हो रहे हैं।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं(यँ), येषां(न्) नाशितमात्मनः ।

तेषामादित्यवज्ज्ञानं(म्), प्रकाशयति तत्परम् ॥ 16 ॥

परन्तु जिनका वह अज्ञान परमात्मा के तत्व ज्ञान द्वारा नष्ट कर दिया गया है, उनका वह ज्ञान सूर्य के सदृश उस सच्चिदानन्दघन परमात्मा को प्रकाशित कर देता है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्-तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं(ञ्), ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ 17 ॥

जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही जिनकी निरंतर एकीभाव से स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञान द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्ति को अर्थात् परमगति को प्राप्त होते हैं।

विद्याविनयसम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च, पण्डिताः(स्) समदर्शिनः ॥ 18 ॥

वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मण में तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी समदर्शी ही होते हैं।

इहैव तैर्जितः(स्) सर्गो, येषां(म्) साम्ये स्थितं(म्) मनः ।

निर्दोषं(म्) हि समं(म्) ब्रह्म, तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ 19 ॥

जिनका मन समभाव में स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही स्थित हैं।

न प्रहृष्येत्प्रियं(म्) प्राप्य, नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।

स्थिरबुद्धिरसम्मूढो, ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ 20 ॥

जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रिय को प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि, संशयरहित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा में एकीभाव से नित्य स्थित है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा, विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।

स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा, सुखमक्षयमश्नुते ॥ 21 ॥

बाहर के विषयों में आसक्तिरहित अन्तःकरण वाला साधक आत्मा में स्थित जो ध्यानजनित सात्विक आनंद है, उसको प्राप्त होता है, तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा के ध्यानरूप योग में अभिन्न भाव से स्थित पुरुष अक्षय आनन्द का अनुभव करता है।

ये हि सं(म्)स्पर्शजा भोगा, दुःखयोनय एव ते ।

आद्यन्तवन्तः(ख्) कौन्तेय, न तेषु रमते बुधः ॥ 22 ॥

जो ये इन्द्रिय तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सब भोग हैं, यद्यपि विषयी पुरुषों को सुखरूप भासते हैं, तो भी दुःख के ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिए हे अर्जुन! बुद्धिमान विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।

शक्नोतीहैव यः(स्) सोढुं(म्), प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।

कामक्रोधोद्भवं(वँ) वेगं(म्), स युक्तः(स्) स सुखी नरः ॥ 23 ॥

जो साधक इस मनुष्य शरीर में, शरीर का नाश होने से पहले-पहले ही काम-क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को सहन करने में समर्थ हो जाता है, वही पुरुष योगी है और वही सुखी है।

योऽन्तः(स्)सुखोऽन्तरारामस्- तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं(म्) , ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ 24 ॥

जो पुरुष अन्तरात्मा में ही सुखवाला है, आत्मा में ही रमण करने वाला है तथा जो आत्मा में ही ज्ञान वाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त सांख्य योगी शांत ब्रह्म को प्राप्त होता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाण-मृषयः(ह) क्षीणकल्मषाः ।

छिन्नद्वैधा यतात्मानः(स्), सर्वभूतहिते रताः ॥ 25 ॥

जिनके सब पाप नष्ट हो गए हैं, जिनके सब संशय ज्ञान द्वारा निवृत्त हो गए हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियों के हित में रत हैं और जिनका जीता हुआ मन निश्चलभाव से परमात्मा में स्थित है, वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष शांत ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

कामक्रोधवियुक्तानां(यँ), यतीनां(यँ) यतचेतसाम् ।

अभितो ब्रह्मनिर्वाणं(वँ), वर्तते विदितात्मनाम् ॥ 26 ॥

काम-क्रोध से रहित, जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार किए हुए ज्ञानी पुरुषों के लिए सब ओर से शांत परब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण हैं।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यां(म्)श्-चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।

प्राणापानौ समौ कृत्वा, नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ 27 ॥

बाहर के विषय-भोगों को न चिन्तन करता हुआ बाहर ही निकालकर और नेत्रों की दृष्टि भृकुटी के बीच में स्थित करके तथा नासिका में विचरने वाले प्राण और अपानवायु को सम करते हैं।

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्-मुनिर्मोक्षपरायणः ।

विगतेच्छाभयक्रोधो, यः(स्) सदा मुक्त एव सः ॥ 28 ॥

जिसकी इन्द्रियाँ मन और बुद्धि जीती हुई हैं, ऐसा जो मोक्षपरायण मुनि इच्छा, भय और क्रोध से रहित हो गया है, वह सदा मुक्त ही है ।

भोक्तारं(यँ) यज्ञतपसां(म्), सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सुहृदं(म्) सर्वभूतानां(ञ्), ज्ञात्वा मां(म्) शान्तिमृच्छति ॥ 29 ॥

मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपों का भोगने वाला, सम्पूर्ण लोकों के ईश्वरों का भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियों का सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्व से जानकर शान्ति को प्राप्त होता है ।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ) योगशास्त्रे

श्रीकृष्णार्जुनसं(वँ)वादे कर्मसन्न्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

ॐ शांतिः(श्) शांतिः(श्) शांतिः।।

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।

श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता षष्ठो अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(म्)

षष्ठोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः(ख्) कर्मफलं(ङ्), कार्यं(ङ्) कर्म करोति यः।

स सन्न्यासी च योगी च, न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ 1॥

श्री भगवान बोले- जो पुरुष कर्मफल का आश्रय न लेकर करने योग्य कर्म करता है, वह संन्यासी तथा योगी है और केवल अग्नि का त्याग करने वाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओं का त्याग करने वाला योगी नहीं है।

यं(म्) सन्न्यासमिति प्राहुर्- योगं(न्) तं(वँ) विद्धि पाण्डव।

न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो, योगी भवति कश्चन ॥ 2॥

हे अर्जुन ! जिसको संन्यास ऐसा कहते हैं, उसी को तू योग जान, क्योंकि संकल्पों का त्याग न करने वाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं(ङ्), कर्म कारणमुच्यते।

योगारूढस्य तस्यैव, शमः(ख्) कारणमुच्यते ॥ 3॥

योग में आरूढ़ होने की इच्छावाले मननशील पुरुष के लिए योग की प्राप्ति में निष्कामभाव से कर्म करना ही हेतु कहा जाता है और योगारूढ़ हो जाने पर उस योगारूढ़ पुरुष का जो सर्वसंकल्पों का अभाव है, वही कल्याण में हेतु कहा जाता है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु, न कर्मस्वनुषज्जते।

सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी, योगारूढस्तदोच्यते ॥ 4॥

जिस काल में न तो इन्द्रियों के भोगों में और न कर्मों में ही आसक्त होता है, उस काल में सर्वसंकल्पों का त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है।

उद्धरेदात्मनात्मानं(न्), नात्मानमवसादयेत् ।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धु-रात्मैव रिपुरात्मनः ॥ 5॥

अपने द्वारा अपना संसार-समुद्र से उद्धार करे और अपने को अधोगति में न डाले क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य, येनात्मैवात्मना जितः ।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे, वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ 6॥

जिस जीवात्मा द्वारा मन और इन्द्रियों सहित शरीर जीता हुआ है, उस जीवात्मा का तो वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियों सहित शरीर नहीं जीता गया है, उसके लिए वह आप ही शत्रु के सदृश शत्रुता में बर्तता है।

जितात्मनः(फ्) प्रशान्तस्य, परमात्मा समाहितः ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु, तथा मानापमानयोः ॥ 7॥

सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादि में तथा मान और अपमान में जिसके अन्तःकरण की वृत्तियाँ भलीभाँति शांत हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुष के ज्ञान में सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकार से स्थित है अर्थात् उसके ज्ञान में परमात्मा के सिवा अन्य कुछ है ही नहीं।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा, कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।

युक्त इत्युच्यते योगी, समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ 8॥

जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिए मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है, ऐसे कहा जाता है।

सुहृन्मित्रार्युदासीन-मध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।

साधुष्वपि च पापेषु, समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ 9॥

सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणों में, धर्मात्माओं में और पापियों में भी समान भाव रखने वाला अत्यन्त श्रेष्ठ है।

योगी युञ्जीत सतत-मात्मानं(म्) रहसि स्थितः ।

एकाकी यतचित्तात्मा, निराशीरपरिग्रहः ॥ 10॥

मन और इन्द्रियों सहित शरीर को वश में रखने वाला, आशारहित और संग्रहरहित योगी अकेला ही एकांत स्थान में स्थित होकर आत्मा को निरंतर परमात्मा में लगाए।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य, स्थिरमासनमात्मनः ।

नात्युच्छ्रितं(न्) नातिनीचं(ञ्), चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ 11॥

शुद्ध भूमि में, जिसके ऊपर क्रमशः कुशा, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं, जो न बहुत ऊँचा है और न बहुत नीचा, ऐसे अपने आसन को स्थिर स्थापन करे।

तत्रैकाग्रं(म्) मनः(ख्) कृत्वा, यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।

उपविश्यासने युञ्ज्याद्-योगमात्मविशुद्धये ॥ 12॥

उस आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए मन को एकाग्र करके अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करे

समं(ङ्) कायशिरोग्रीवं(न्), धारयन्नचलं(म्) स्थिरः ।

सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं(म्) स्वं(न्), दिशश्चानवलोकयन् ॥ 13॥

काया, सिर और गले को समान एवं अचल धारण करके और स्थिर होकर, अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर, अन्य दिशाओं को न देखता हुआ

प्रशान्तात्मा विगतभीर्-ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।

मनः(स्) सं(यँ)यम्य मच्चित्तो, युक्त आसीत मत्परः ॥ 14॥

ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित, भयरहित तथा भलीभाँति शांत अन्तःकरण वाला सावधान योगी मन को रोककर मुझमें चित्तवाला और मेरे परायण होकर स्थित होवे

युञ्जन्नेवं(म्) सदात्मानं(यँ), योगी नियतमानसः ।

शान्तिं(न्) निर्वाणपरमां(म्), मत्संस्थामधिगच्छति ॥ 15॥

वश में किए हुए मनवाला योगी इस प्रकार आत्मा को निरंतर मुझ परमेश्वर के स्वरूप में लगाता हुआ मुझमें रहने वाली परमानन्द की पराकाष्ठारूप शान्ति को प्राप्त होता है

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति, न चैकान्तमनश्नतः।

न चातिस्वप्नशीलस्य, जाग्रतो नैव चार्जुन॥ 16॥

हे अर्जुन! यह योग न तो बहुत खाने वाले का, न बिलकुल न खाने वाले का, न बहुत शयन करने के स्वभाव वाले का और न सदा जागने वाले का ही सिद्ध होता है

युक्ताहारविहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

युक्तस्वप्नावबोधस्य, योगो भवति दुःखहा॥ 17॥

दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करने वाले का, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले का और यथायोग्य सोने तथा जागने वाले का ही सिद्ध होता है

यदा विनियतं(ञ्) चित्त- मात्मन्येवावतिष्ठते।

निः(स्)स्पृहः(स्) सर्वकामेभ्यो, युक्त इत्युच्यते तदा॥ 18॥

अत्यन्त वश में किया हुआ चित्त जिस काल में परमात्मा में ही भलीभाँति स्थित हो जाता है, उस काल में सम्पूर्ण भोगों से स्पृहारहित पुरुष योगयुक्त है, ऐसा कहा जाता है

यथा दीपो निवातस्थो, नेङ्गते सोपमा स्मृता।

योगिनो यतचित्तस्य, युञ्जतो योगमात्मनः॥ 19॥

जिस प्रकार वायुरहित स्थान में स्थित दीपक चलायमान नहीं होता, वैसी ही उपमा परमात्मा के ध्यान में लगे हुए योगी के जीते हुए चित्त की कही गई है

यत्रोपरमते चित्तं(न्), निरुद्धं(यँ) योगसेवया ।

यत्र चैवात्मनात्मानं(म्), पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ 20॥

योग के अभ्यास से निरुद्ध चित्त जिस अवस्था में उपराम हो जाता है और जिस अवस्था में परमात्मा के ध्यान से शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा परमात्मा को साक्षात् करता हुआ सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही सन्तुष्ट रहता है

सुखमात्यन्तिकं(यँ) यत्तद्-बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।

वेत्ति यत्र न चैवायं(म्), स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ 21॥

इन्द्रियों से अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्था में अनुभव करता है, और जिस अवस्था में स्थित यह योगी परमात्मा के स्वरूप से विचलित होता ही नहीं

यं(लँ) लब्ध्वा चापरं(लँ) लाभं(म्), मन्यते नाधिकं(न्) ततः।

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन, गुरुणापि विचाल्यते ॥ 22॥

परमात्मा की प्राप्ति रूप जिस लाभ को प्राप्त होकर उसे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्मा प्राप्ति रूप जिस अवस्था में स्थित योगी बड़े भारी दुःख से भी चलायमान नहीं होता

तं(वँ) विद्याद् दुःखसं(यँ)योग- वियोगं(यँ) योगसञ्ज्ञितम्।

स निश्चयेन योक्तव्यो, योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ 23॥

जो दुःखरूप संसार के संयोग से रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिए। वह योग न उकताए हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्त से निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है

सङ्कल्पप्रभवान्कामां(म्)स्- त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।

मनसैवेन्द्रियग्रामं(वँ), विनियम्य समन्ततः ॥ 24॥

संकल्प से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण कामनाओं को निःशेष रूप से त्यागकर और मन द्वारा इन्द्रियों के समुदाय को सभी ओर से भलीभाँति रोककर

शनैः(श्) शनैरुपरमेद्-बुद्ध्या धृतिगृहीतया।

आत्मसं(म्)स्थं(म्) मनः(ख्) कृत्वा, न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ 25॥

क्रम-क्रम से अभ्यास करता हुआ उपरति को प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धि द्वारा मन को परमात्मा में स्थित करके परमात्मा के सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे

यतो यतो निश्चरति, मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।

ततस्ततो नियम्यैत-दात्मन्येव वशं(न्) नयेत् ॥ 26॥

यह स्थिर न रहने वाला और चंचल मन जिस-जिस शब्दादि विषय के निमित्त से संसार में विचरता है, उस-उस विषय से रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मा में ही निरुद्ध करे

प्रशान्तमनसं(म्) ह्येनं(यँ), योगिनं(म्) सुखमुत्तमम् ।

उपैति शान्तरजसं(म्), ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ 27॥

क्योंकि जिसका मन भली प्रकार शांत है, जो पाप से रहित है और जिसका रजोगुण शांत हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के साथ एकीभाव हुए योगी को उत्तम आनंद प्राप्त होता है

युञ्जन्नेवं(म्) सदात्मानं(यँ), योगी विगतकल्मषः ।

सुखेन ब्रह्मसं(म्)स्पर्श-मत्यन्तं(म्) सुखमश्नुते ॥ 28॥

वह पापरहित योगी इस प्रकार निरंतर आत्मा को परमात्मा में लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति रूप अनन्त आनंद का अनुभव करता है

सर्वभूतस्थमात्मानं(म्), सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईक्षते योगयुक्तात्मा, सर्वत्र समदर्शनः ॥ 29॥

सर्वव्यापी अनंत चेतन में एकीभाव से स्थिति रूप योग से युक्त आत्मा वाला तथा सब में समभाव से देखने वाला योगी आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में स्थित और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में कल्पित देखता है

यो मां(म्) पश्यति सर्वत्र, सर्वं(ञ्) च मयि पश्यति ।

तस्याहं(न्) न प्रणश्यामि, स च मे न प्रणश्यति ॥ 30॥

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में सबके आत्मरूप मुझ वासुदेव को ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझ वासुदेव के अन्तर्गत देखता है, उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं होता

सर्वभूतस्थितं(यँ) यो मां(म्), भजत्येकत्वमास्थितः ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि, स योगी मयि वर्तते ॥ 31॥

जो पुरुष एकीभाव में स्थित होकर सम्पूर्ण भूतों में आत्मरूप से स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव को भजता है, वह योगी सब प्रकार से बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है

आत्मौपम्येन सर्वत्र, समं(म्) पश्यति योऽर्जुन ।

सुखं(वँ) वा यदि वा दुःखं(म्), स योगी परमो मतः॥ 32॥

हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतों में सम देखता है और सुख अथवा दुःख को भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।

अर्जुन उवाच

योऽयं(यँ) योगस्त्वया प्रोक्तः(स्), साम्येन मधुसूदन ।

एतस्याहं(न्) न पश्यामि, चञ्चलत्वात्स्थितिं(म्) स्थिराम् ॥ 33॥

अर्जुन बोले- हे मधुसूदन! जो यह योग आपने समभाव से कहा है, मन के चंचल होने से मैं इसकी नित्य स्थिति को नहीं देखता हूँ

चञ्चलं(म्) हि मनः(ख्) कृष्ण, प्रमाथि बलवद् दृढम् ।

तस्याहं(न्) निग्रहं(म्) मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम् ॥ 34॥

क्योंकि हे श्रीकृष्ण! यह मन बड़ा चंचल, प्रमथन स्वभाव वाला, बड़ा दृढ़ और बलवान है। इसलिए उसको वश में करना मैं वायु को रोकने की भाँति अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ

श्रीभगवानुवाच

असं(म्)शयं(म्) महाबाहो, मनो दुर्निग्रहं(ञ्) चलम् ।

अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते ॥ 35॥

श्री भगवान बोले- हे महाबाहो! निःसंदेह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है। परन्तु हे कुंतीपुत्र अर्जुन! यह अभ्यास और वैराग्य से वश में होता है

असं(यँ)यतात्मना योगो, दुष्प्राप इति मे मतिः ।

वश्यात्मना तु यतता, शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ 36॥

जिसका मन वश में किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुष द्वारा योग दुष्प्राप्य है और वश में किए हुए मन वाले प्रयत्नशील पुरुष द्वारा साधन से उसका प्राप्त होना सहज है- यह मेरा मत है

अर्जुन उवाच

अयतिः(श्) श्रद्धयोपेतो, योगाच्चलितमानसः ।

अप्राप्य योगसं(म्)सिद्धिं(ङ्), कां(ङ्) गतिं(ङ्) कृष्ण गच्छति ॥ 37॥

अर्जुन बोले- हे श्रीकृष्ण! जो योग में श्रद्धा रखने वाला है, किन्तु संयमी नहीं है, इस कारण जिसका मन अन्तकाल में योग से विचलित हो गया है, ऐसा साधक योग की सिद्धि को अर्थात् भगवत्साक्षात्कार को न प्राप्त होकर किस गति को प्राप्त होता है

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्-छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।

अप्रतिष्ठो महाबाहो, विमूढो ब्रह्मणः(फ्) पथि ॥ 38॥

हे महाबाहो! क्या वह भगवत्प्राप्ति के मार्ग में मोहित और आश्रयरहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादल की भाँति दोनों ओर से भ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता?

एतन्मे सं(म्)शयं(ङ्) कृष्ण, छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।

त्वदन्यः(स्) सं(म्)शयस्यास्य, छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ 39॥

हे श्रीकृष्ण! मेरे इस संशय को सम्पूर्ण रूप से छेदन करने के लिए आप ही योग्य हैं क्योंकि आपके सिवा दूसरा इस संशय का छेदन करने वाला मिलना संभव नहीं है

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र, विनाशस्तस्य विद्यते ।

न हि कल्याणकृत्कश्चिद्-दुर्गतिं(न्) तात गच्छति ॥ 40॥

श्री भगवान बोले- हे पार्थ! उस पुरुष का न तो इस लोक में नाश होता है और न परलोक में ही क्योंकि हे प्यारे! आत्मोद्धार के लिए अर्थात् भगवत्प्राप्ति के लिए कर्म करने वाला कोई भी मनुष्य दुर्गति को प्राप्त नहीं होता

प्राप्य पुण्यकृतां(लँ) लोका-नुषित्वा शाश्वतीः(स्) समाः ।

शुचीनां(म्) श्रीमतां(ङ्) गेहे, योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ 41॥

योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानों के लोकों को अर्थात् स्वर्गादि उत्तम लोकों को प्राप्त होकर, उनमें बहुत वर्षों तक निवास करके फिर शुद्ध आचरण वाले श्रीमान पुरुषों के घर में जन्म लेता है

अथवा योगिनामेव, कुले भवति धीमताम् ।

एतद्धि दुर्लभतरं(लँ), लोके जन्म यदीदृशम् ॥ 42॥

अथवा वैराग्यवान पुरुष उन लोकों में न जाकर ज्ञानवान योगियों के ही कुल में जन्म लेता है, परन्तु इस प्रकार का जो यह जन्म है, सो संसार में निःसंदेह अत्यन्त दुर्लभ है

तत्र तं(म्) बुद्धिसं(यँ)योगं(लँ), लभते पौर्वदेहिकम् ।

यतते च ततो भूयः(स्), सं(म्)सिद्धौ कुरुनन्दन ॥ 43॥

वहाँ उस पहले शरीर में संग्रह किए हुए बुद्धि-संयोग को अर्थात् समबुद्धिरूप योग के संस्कारों को अनायास ही प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनन्दन! उसके प्रभाव से वह फिर परमात्मा की प्राप्तिरूप सिद्धि के लिए पहले से भी बढ़कर प्रयत्न करता है

पूर्वाभ्यासेन तेनैव, ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।

जिज्ञासुरपि योगस्य, शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ 44॥

वह श्रीमानों के घर में जन्म लेने वाला योगभ्रष्ट पराधीन हुआ भी उस पहले के अभ्यास से ही निःसंदेह भगवान की ओर आकर्षित किया जाता है तथा समबुद्धि रूप योग का जिज्ञासु भी वेद में कहे हुए सकाम कर्मों के फल को उल्लंघन कर जाता है

प्रयत्नाद्यतमानस्तु, योगी सं(म्)शुद्धकिल्बिषः ।

अनेकजन्मसं(म्)सिद्धस्- ततो याति परां(ङ्) गतिम् ॥ 45॥

परन्तु प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने वाला योगी तो पिछले अनेक जन्मों के संस्कारबल से इसी जन्म में संसिद्ध होकर सम्पूर्ण पापों से रहित हो फिर तत्काल ही परमगति को प्राप्त हो जाता है

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ 46॥

योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना गया है और सकाम कर्म करने वालों से भी योगी श्रेष्ठ है। इससे हे अर्जुन! तू योगी हो

योगिनामपि सर्वेषां(म्), मद्गतेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान्भजते यो मां(म्), स मे युक्ततमो मतः ॥ 47॥

सम्पूर्ण योगियों में भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मा से मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ) योगशास्त्रे

श्रीकृष्णार्जुनसं(वँ)वादे आत्मसं(यँ)यमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शांतिः(श्) शांतिः(श्) शांतिः॥

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।

श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता सप्तमो अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(म्)

सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः(फ्) पार्थ, योगं(यँ) युञ्जन्मदाश्रयः ।

असं(म्)शयं(म्) समग्रं(म्) मां(यँ), यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ 1 ॥

श्री भगवान बोले- हे पार्थ! अनन्य प्रेम से मुझमें आसक्त चित तथा अनन्य भाव से मेरे परायण होकर योग में लगा हुआ तू जिस प्रकार से सम्पूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्यादि गुणों से युक्त, सबके आत्मरूप मुझको संशयरहित जानेगा, उसको सुन ।

ज्ञानं(न्) तेऽहं(म्) सविज्ञान- मिदं(वँ्) वक्ष्याम्यशेषतः ।

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्- ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ 2 ॥

मैं तेरे लिए इस विज्ञान सहित तत्व ज्ञान को सम्पूर्णतया कहूँगा, जिसको जानकर संसार में फिर और कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रह जाता ।

मनुष्याणां(म्) सहस्रेषु, कश्चिद्यतति सिद्धये ।

यततामपि सिद्धानां(ङ्), कश्चिन्मां(वँ्) वेत्ति तत्त्वतः ॥ 3 ॥

हजारों मनुष्यों में कोई एक मेरी प्राप्ति के लिए यत्न करता है और उन यत्न करने वाले योगियों में भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्व से अर्थात् यथार्थ रूप से जानता है ।

भूमिरापोऽनलो वायुः(ख्), खं(म्) मनो बुद्धिरेव च ।

अहङ्कार इतीयं(म्) मे, भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ 4 ॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार भी- इस प्रकार ये आठ प्रकार से विभाजित मेरी प्रकृति है।

अपरेयमितस्त्वन्यां(म्), प्रकृतिं(वँ्) विद्धि मे पराम् ।

जीवभूतां(म्) महाबाहो, ययेदं(न्) धार्यते जगत् ॥ 5 ॥

यह आठ प्रकार के भेदों वाली तो अपरा अर्थात् मेरी जड़ प्रकृति है और हे महाबाहो! इससे दूसरी को, जिससे यह सम्पूर्ण जगत धारण किया जाता है, मेरी जीवरूपा परा अर्थात् चेतन प्रकृति जान ।

एतद्योनीनि भूतानि, सर्वाणीत्युपधारय ।

अहं(ङ्) कृत्स्नस्य जगतः(फ्), प्रभवः(फ्) प्रलयस्तथा ॥ 6 ॥

हे अर्जुन! तू ऐसा समझ कि सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियों से ही उत्पन्न होने वाले हैं और मैं सम्पूर्ण जगत का प्रभव तथा प्रलय हूँ अर्थात् सम्पूर्ण जगत का मूल कारण हूँ ।

मत्तः(फ्) परतरं(न्) नान्यत्- किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।

मयि सर्वमिदं(म्) प्रोतं(म्), सूत्रे मणिगणा इव ॥ 7 ॥

हे धनंजय! मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परम कारण नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत सूत्र में सूत्र के मणियों के सदृश मुझमें गुँथा हुआ है।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय, प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।

प्रणवः(स्) सर्ववेदेषु, शब्दः(ख्) खे पौरुषं(न्) नृषु ॥ 8 ॥

हे अर्जुन! मैं जल में रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश हूँ, सम्पूर्ण वेदों में ओंकार हूँ, आकाश में शब्द और पुरुषों में पुरुषत्व हूँ ।

पुण्यो गन्धः(फ्) पृथिव्यां(ञ्) च, तेजश्चास्मि विभावसौ ।

जीवनं(म्) सर्वभूतेषु, तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ 9 ॥

मैं पृथ्वी में पवित्र गंध और अग्नि में तेज हूँ तथा सम्पूर्ण भूतों में उनका जीवन हूँ और तपस्वियों में तप हूँ ।

बीजं(म्) मां(म्) सर्वभूतानां(वँ), विद्धि पार्थ सनातनम् ।

बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि, तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ 10 ॥

हे अर्जुन! तू सम्पूर्ण भूतों का सनातन बीज मुझको ही जान। मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूँ ।

बलं(म्) बलवतां(ञ्) चाहं(ङ्), कामरागविवर्जितम् ।

धर्माविरुद्धो भूतेषु, कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ 11 ॥

हे भरतश्रेष्ठ! मैं बलवानों का आसक्ति और कामनाओं से रहित बल अर्थात् सामर्थ्य हूँ और सब भूतों में धर्म के अनुकूल अर्थात् शास्त्र के अनुकूल काम हूँ ।

ये चैव सात्त्विका भावा, राजसास्तामसाश्च ये ।

मत्त एवेति तान्विद्धि, न त्वहं(न्) तेषु ते मयि ॥ 12 ॥

और भी जो सत्त्व गुण से उत्पन्न होने वाले भाव हैं और जो रजो गुण से होने वाले भाव हैं, उन सबको तू मुझसे ही होने वाले हैं ऐसा जान, परन्तु उनमें मैं और वे मुझमें नहीं हैं ।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावै- रेभिः(स्) सर्वमिदं(ञ्) जगत् ।

मोहितं(न्) नाभिजानाति, मामेभ्यः(फ्) परमव्ययम् ॥ 13 ॥

गुणों के कार्य रूप सात्त्विक, राजस और तामस- इन तीनों प्रकार के भावों से यह सारा संसार-प्राणिसमुदाय मोहित हो रहा है, इसीलिए इन तीनों गुणों से परे मुझ अविनाशी को नहीं जानता ।

दैवी ह्येषा गुणमयी, मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते, मायामेतां(न्) तरन्ति ते ॥ 14 ॥

क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष केवल मुझको ही निरंतर भजते हैं, वे इस माया को उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् संसार से तर जाते हैं ।

न मां(न्) दुष्कृतिनो मूढाः(फ्), प्रपद्यन्ते नराधमाः ।

माययापहृतज्ञाना, आसुरं(म्) भावमाश्रिताः ॥ 15 ॥

माया द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, ऐसे आसुर-स्वभाव को धारण किए हुए, मनुष्यों में नीच, दूषित कर्म करने वाले मूढ़ लोग मुझको नहीं भजते ।

चतुर्विधा भजन्ते मां(ञ्), जनाः(स्) सुकृतिनोऽर्जुन ।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी, ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ 16 ॥

हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्म करने वाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी- ऐसे चार प्रकार के भक्तजन मुझको भजते हैं ।

तेषां(ञ्) ज्ञानी नित्ययुक्त, एकभक्तिर्विशिष्यते ।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थ- महं(म्) स च मम प्रियः ॥ 17 ॥

उनमें नित्य मुझमें एकीभाव से स्थित अनन्य प्रेमभक्ति वाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है क्योंकि मुझको तत्व से जानने वाले ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है ।

उदाराः(स्) सर्व एवैते, ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।

आस्थितः(स्) स हि युक्तात्मा, मामेवानुत्तमां(ङ्) गतिम् ॥ 18 ॥

ये सभी उदार हैं, परन्तु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है- ऐसा मेरा मत है क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है ।

बहूनां(ञ्) जन्मनामन्ते, ज्ञानवान्मां(म्) प्रपद्यते ।

वासुदेवः(स्) सर्वमिति, स महात्मा सुदुर्लभः ॥ 19 ॥

बहुत जन्मों के अंत के जन्म में तत्व ज्ञान को प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही हैं- इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः(फ्), प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।

तं(न्) तं(न्) नियममास्थाय, प्रकृत्या नियताः(स्) स्वया ॥ 20 ॥

उन-उन भोगों की कामना द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, वे लोग अपने स्वभाव से प्रेरित होकर उस-उस नियम को धारण करके अन्य देवताओं को भजते हैं अर्थात् पूजते हैं ।

यो यो यां(यँ) यां(न्) तनुं(म्) भक्तः(श्), श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।

तस्य तस्याचलां(म्) श्रद्धां(न्), तामेव विदधाम्यहम् ॥ 21 ॥

जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस देवता के स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है, उस-उस भक्त की श्रद्धा को मैं उसी देवता के प्रति स्थिर करता हूँ ।

स तया श्रद्धया युक्तस्- तस्याराधनमीहते ।

लभते च ततः(ख्) कामान्- मयैव विहितान्हि तान् ॥ 22 ॥

वह पुरुष उस श्रद्धा से युक्त होकर उस देवता का पूजन करता है और उस देवता से मेरे द्वारा ही विधान किए हुए उन इच्छित भोगों को निःसंदेह प्राप्त करता है ।

अन्तवत्तु फलं(न्) तेषां(न्), तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।

देवान्देवयजो यान्ति, मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ 23 ॥

परन्तु उन अल्प बुद्धिवालों का वह फल नाशवान है तथा वे देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें, अन्त में वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।

अव्यक्तं(वँ) व्यक्तिमापन्नं(म्), मन्यन्ते मामबुद्धयः ।

परं(म्) भावमजानन्तो, ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ 24 ॥

बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम अविनाशी परम भाव को न जानते हुए मन-इन्द्रियों से परे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा को मनुष्य की भाँति जन्मकर व्यक्ति भाव को प्राप्त हुआ मानते हैं ।

नाहं(म्) प्रकाशः(स्) सर्वस्य, योगमायासमावृतः ।

मूढोऽयं(न्) नाभिजानाति, लोको मामजमव्ययम् ॥ 25 ॥

अपनी योगमाया से छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वर को नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरने वाला समझता है ।

वेदाहं(म्) समतीतानि, वर्तमानानि चार्जुन ।

भविष्याणि च भूतानि, मां(न्) तु वेद न कश्चन ॥ 26 ॥

हे अर्जुन! पूर्व में व्यतीत हुए और वर्तमान में स्थित तथा आगे होने वाले सब भूतों को मैं जानता हूँ, परन्तु मुझको कोई भी श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष नहीं जानता ।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन, द्वन्द्वमोहेन भारत ।

सर्वभूतानि सम्मोहं(म्), सर्गे यान्ति परन्तप ॥ 27 ॥

हे भरतवंशी अर्जुन! संसार में इच्छा और द्वेष से उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वंद्वरूप मोह से सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञता को प्राप्त हो रहे हैं ।

येषां(न्) त्वन्तगतं(म्) पापं(ञ्), जनानां(म्) पुण्यकर्मणाम् ।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता, भजन्ते मां(न्) दृढव्रताः ॥ 28 ॥

परन्तु निष्काम भाव से श्रेष्ठ कर्मों का आचरण करने वाले जिन पुरुषों का पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषजनित द्वन्द्व रूप मोह से मुक्त दृढ़निश्चयी भक्त मुझको सब प्रकार से भजते हैं ।

जरामरणमोक्षाय, मामाश्रित्य यतन्ति ये ।

ते ब्रह्म तद्विदुः(ख्) कृत्स्न- मध्यात्मं(ङ्) कर्म चाखिलम् ॥ 29 ॥

जो मेरे शरण होकर जरा और मरण से छूटने के लिए यत्न करते हैं, वे पुरुष उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को, सम्पूर्ण कर्म को जानते हैं ।

साधिभूताधिदैवं(म्) मां(म्), साधियज्ञं(ञ्) च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां(न्), ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ 30 ॥

जो पुरुष अधिभूत और अधिदैव सहित तथा अधियज्ञ सहित सबका आत्मरूप मुझे अन्तकाल में भी जानते हैं, वे युक्तचित्तवाले पुरुष मुझे जानते हैं अर्थात् प्राप्त हो जाते हैं ।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ) योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसं(वँ)वादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ 7 ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शांतिः(श्) शांतिः(श्) शांतिः ॥

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता अष्टम् अध्याय

श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।
देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(म्)
अथाष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

किं(न्) तद्ब्रह्म किमध्यात्मं(ङ्), किं(ङ्) कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं(ञ्) च किं(म्) प्रोक्त- मधिदैवं(ङ्) किमुच्यते ॥ 1 ॥

अर्जुन ने कहा- हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत नाम से क्या कहा गया है और अधिदैव किसको कहते हैं ।

अधियज्ञः(ख्) कथं(ङ्) कोऽत्र, देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं(ञ्), ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ 2 ॥

हे मधुसूदन! यहाँ अधियज्ञ कौन है? और वह इस शरीर में कैसे है? तथा युक्त चित्त वाले पुरुषों द्वारा अंत समय में आप किस प्रकार जानने में आते हैं ।

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं(म्) ब्रह्म परमं(म्), स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।

भूतभावोद्भवकरो, विसर्गः(ख्) कर्मसञ्ज्ञितः ॥ 3 ॥

श्री भगवान् ने कहा- परम अक्षर 'ब्रह्म' है, अपना स्वरूप अर्थात् जीवात्मा 'अध्यात्म' नाम से कहा जाता है तथा भूतों के भाव को उत्पन्न करने वाला जो त्याग है, वह 'कर्म' नाम से कहा गया है ।

अधिभूतं(ङ्) क्षरो भावः(फ्), पुरुषश्चाधिदैवतम् ।

अधियज्ञोऽहमेवात्र, देहे देहभृतां(वँ) वर ॥ 4 ॥

उत्पत्ति-विनाश धर्म वाले सब पदार्थ अधिभूत हैं, हिरण्यमय पुरुष अधिदैव है और हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन! इस शरीर में मैं वासुदेव ही अन्तर्यामी रूप से अधियज्ञ हूँ ।

अन्तकाले च मामेव, स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।

यः(फ्) प्रयाति स मद्भावं(यँ), याति नास्त्यत्र सं(म्)शयः ॥ 5 ॥

जो पुरुष अंतकाल में भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त होता है- इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।

यं(यँ) यं(वँ) वापि स्मरन्भावं(न्), त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।

तं(न्) तमेवैति कौन्तेय, सदा तद्भावभावितः ॥ 6 ॥

हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अंतकाल में जिस-जिस भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भाव से भावित रहा है ।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु, मामनुस्मर युध्य च ।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्- मामेवैष्यस्यसं(म्)शयम् ॥ 7 ॥

इसलिए हे अर्जुन! तू सब समय में निरंतर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किए हुए मन-बुद्धि से युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा ।

अभ्यासयोगयुक्तेन, चेतसा नान्यगामिना ।

परमं(म्) पुरुषं(न्) दिव्यं(यँ), याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ 8 ॥

हे पार्थ! यह नियम है कि परमेश्वर के ध्यान के अभ्यास रूप योग से युक्त, दूसरी ओर न जाने वाले चित्त से निरंतर चिंतन करता हुआ मनुष्य परम प्रकाश रूप दिव्य पुरुष को अर्थात् परमेश्वर को ही प्राप्त होता है ।

कविं(म्) पुराणमनुशासितार-

मणोरणीयां(म्)समनुस्मरेद्यः ।

सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-

मादित्यवर्णं(न्) तमसः(फ्) परस्तात् ॥ 9 ॥

जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियंता सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करने वाले अचिन्त्य-स्वरूप, सूर्य के सदृश नित्य चेतन प्रकाश रूप और अविद्या से अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वर का स्मरण करता है ।

प्रयाण काले मनसाचलेन,

भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।

भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्-

स तं(म्) परं(म्) पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ 10 ॥

वह भक्ति युक्त पुरुष अन्तकाल में भी योगबल से भृकुटी के मध्य में प्राण को अच्छी प्रकार स्थापित करके, फिर निश्चल मन से स्मरण करता हुआ उस दिव्य रूप परम पुरुष परमात्मा को ही प्राप्त होता है ।

यदक्षरं(वँ) वेदविदो वदन्ति,

विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं(ञ्) चरन्ति,

तत्ते पदं(म्) सं(ङ्)ग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ 11 ॥

वेद के जानने वाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परम पद को अविनाशी कहते हैं, आसक्ति रहित यत्नशील संन्यासी महात्माजन, जिसमें प्रवेश करते हैं और जिस परम पद को चाहने वाले ब्रह्मचारी लोग ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, उस परम पद को मैं तेरे लिए संक्षेप से कहूँगा ।

सर्वद्वाराणि सं(यँ)यम्य, मनो हृदि निरुध्य च ।

मूर्ध्न्याधायात्मनः(फ्) प्राण- मास्थितो योगधारणाम् ॥ 12 ॥

सब इंद्रियों के द्वारों को रोककर तथा मन को हृदय में स्थिर करके, फिर उस जीते हुए मन द्वारा प्राण को मस्तक में स्थापित करके, परमात्मा संबंधी योगधारणा में स्थित होना है।

ओमित्येकाक्षरं(म्) ब्रह्म, व्याहरन्मामनुस्मरन्।

यः(फ्) प्रयाति त्यजन्देहं(म्), स याति परमां(ङ्) गतिम् ॥ 13 ॥

जो पुरुष 'ॐ' इस अक्षररूप ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ निर्गुण ब्रह्म का चिन्तन करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है, वह पुरुष परमगति को प्राप्त होता है।

अनन्यचेताः(स्) सततं(यँ), यो मां(म्) स्मरति नित्यशः ।

तस्याहं(म्) सुलभः(फ्) पार्थ, नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ 14 ॥

हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्य-चित्त होकर सदा ही निरंतर मुझ पुरुषोत्तम को स्मरण करता है, उस नित्य-निरंतर मुझमें युक्त हुए योगी के लिए मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।

मामुपेत्य पुनर्जन्म, दुःखालयमशाश्वतम् ।

नाप्नुवन्ति महात्मानः(स्), सं(म्)सिद्धिं(म्) परमां(ङ्) गताः ॥ 15 ॥

परम सिद्धि को प्राप्त महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दुःखों के घर एवं क्षणभंगुर पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते ।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः(फ्), पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।

मामुपेत्य तु कौन्तेय, पुनर्जन्म न विद्यते ॥ 16 ॥

हे अर्जुन! ब्रह्मलोकपर्यंत सब लोक पुनरावर्ती हैं, परन्तु हे कुन्तीपुत्र! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि मैं कालातीत हूँ और ये सब ब्रह्मादि के लोक काल के द्वारा सीमित होने से अनित्य हैं ।

सहस्रयुगपर्यन्त- महर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।

रात्रिं(यँ) युगसहस्रान्तां(न्), तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ 17 ॥

ब्रह्मा का जो एक दिन है, उसको एक हजार चतुर्युगी तक की अवधि वाला और रात्रि को भी एक हजार चतुर्युगी तक की अवधि वाला जो पुरुष तत्व से जानते हैं, वे योगीजन काल के तत्व को जानने वाले हैं।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः(स्) सर्वाः(फ्), प्रभवन्त्यहरागमे ।

रात्र्यागमे प्रलीयन्ते, तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके ॥ 18 ॥

संपूर्ण चराचर भूतगण ब्रह्मा के दिन के प्रवेश काल में अव्यक्त से अर्थात् ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर से उत्पन्न होते हैं और ब्रह्मा की रात्रि के प्रवेशकाल में उस अव्यक्त नामक ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर में ही लीन हो जाते हैं ।

भूतग्रामः(स्) स एवायं(म्), भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।

रात्र्यागमेऽवशः(फ्) पार्थ, प्रभवत्यहरागमे ॥ 19 ॥

हे पार्थ! वही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर प्रकृति वश में हुआ रात्रि के प्रवेश काल में लीन होता है और दिन के प्रवेश काल में फिर उत्पन्न होता है ।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽ- व्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।

यः(स्) स सर्वेषु भूतेषु, नश्यत्सु न विनश्यति ॥ 20 ॥

उस अव्यक्त से भी अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण जो सनातन अव्यक्त भाव है, वह परम दिव्य पुरुष सब भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता ।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्- तमाहुः(फ्) परमां(ङ्) गतिम् ।

यं(म्) प्राप्य न निवर्तन्ते, तद्धाम परमं(म्) मम ॥ 21 ॥

जो अव्यक्त 'अक्षर' इस नाम से कहा गया है, उसी अक्षर नामक अव्यक्त भाव को परमगति कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्त भाव को प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते, वह मेरा परम धाम है ।

पुरुषः(स्) स परः(फ्) पार्थ, भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।

यस्यान्तः(स्)स्थानि भूतानि, येन सर्वमिदं(न्) ततम् ॥ 22 ॥

हे पार्थ! जिस परमात्मा के अंतर्गत सर्वभूत है और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मा से यह समस्त जगत् परिपूर्ण है, वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्य भक्ति से ही प्राप्त होने योग्य है।

यत्र काले त्वनावृत्ति- मावृत्तिं(ञ्) चैव योगिनः ।

प्रयाता यान्ति तं(ङ्) कालं(वँ), वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ 23 ॥

हे अर्जुन! जिस काल में शरीर त्याग कर गए हुए योगीजन तो वापस न लौटने वाली गति को और जिस काल में गए हुए वापस लौटने वाली गति को ही प्राप्त होते हैं, उस काल को अर्थात् दोनों मार्गों को कहूँगा।

अग्निर्ज्योतिरहः(श्) शुक्लः(ष्), षण्मासा उत्तरायणम् ।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति, ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ 24 ॥

जिस मार्ग में ज्योतिर्मय अग्नि-अभिमानी देवता हैं, दिन का अभिमानी देवता है, शुक्ल पक्ष का अभिमानी देवता है और उत्तरायण के छः महीनों का अभिमानी देवता है, उस मार्ग में मरकर गए हुए ब्रह्मवेत्ता योगीजन उपर्युक्त देवताओं द्वारा क्रम से ले जाए जाकर ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः(ष्), षण्मासा दक्षिणायनम् ।

तत्र चान्द्रमसं(ञ्) ज्योतिर्-योगी प्राप्य निवर्तते ॥ 25 ॥

जिस मार्ग में धूमाभिमानी देवता है, रात्रि अभिमानी देवता है तथा कृष्ण पक्ष का अभिमानी देवता है और दक्षिणायन के छः महीनों का अभिमानी देवता है, उस मार्ग में मरकर गया हुआ सकाम कर्म करने वाला योगी उपर्युक्त देवताओं द्वारा क्रम से ले गया हुआ चंद्रमा की ज्योति को प्राप्त होकर स्वर्ग में अपने शुभ कर्मों का फल भोगकर वापस आता है ।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते, जगतः(श्) शाश्वते मते ।

एकया यात्यनावृत्ति- मन्ययावर्तते पुनः ॥ 26 ॥

जगत् के ये दो प्रकार के- शुक्ल और कृष्ण अर्थात् देवयान और पितृयान मार्ग सनातन माने गए हैं। इनमें एक के द्वारा गया हुआ जिससे वापस नहीं लौटना पड़ता, उस परमगति को प्राप्त होता है और दूसरे के द्वारा गया हुआ फिर वापस आता है अर्थात् जन्म-मृत्यु को प्राप्त होता है ।

नैते सृती पार्थ जानन्- योगी मुह्यति कश्चन ।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु, योगयुक्तो भवार्जुन ॥ 27 ॥

हे पार्थ! इस प्रकार इन दोनों मार्गों को तत्त्व से जानकर कोई भी योगी मोहित नहीं होता। इस कारण हे अर्जुन! तू सब काल में समबुद्धि रूप से योग से युक्त हो अर्थात् निरंतर मेरी प्राप्ति के लिए साधन करने वाला हो ।

वेदेषु यज्ञेषु तपः(स्)सु चैव,

दानेषु यत्पुण्यफलं(म्) प्रदिष्टम्।

अत्येति तत्सर्वमिदं(वँ) विदित्वा,

योगी परं(म्) स्थानमुपैति चाद्यम्॥ 28 ॥

योगी पुरुष इस रहस्य को तत्त्व से जानकर वेदों के पढ़ने में तथा यज्ञ, तप और दानादि के करने में जो पुण्यफल कहा है, उन सबको निःसंदेह उल्लंघन कर जाता है और सनातन परम पद को प्राप्त होता है ।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ) योगशास्त्रे

श्री कृष्णार्जुनसं(वँ)वादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ 8 ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शांतिः(श्) शांतिः(श्) शांतिः ॥

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।

श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता नवमो अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(न्)

नवमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं(न्) तु ते गुह्यतमं(म्), प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।

ज्ञानं(वँ) विज्ञानसहितं(यँ), यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ 1 ॥

श्री भगवान् बोले- तुझ दोषदृष्टिरहित भक्त के लिए इस परम गोपनीय विज्ञान सहित ज्ञान को पुनः भली भाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू दुःखरूप संसार से मुक्त हो जाएगा ।

राजविद्या राजगुह्यं(म्), पवित्रमिदमुत्तमम्।

प्रत्यक्षावगमं(न्) धर्म्यं(म्), सुसुखं(ङ्) कर्तुमव्ययम्॥ 2 ॥

यह विज्ञान सहित ज्ञान सब विद्याओं का राजा, सब गोपनीयों का राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करने में बड़ा सुगम और अविनाशी है ।

अश्रद्दधानाः(फ्) पुरुषा, धर्मस्यास्य परन्तप ।

अप्राप्य मां(न्) निवर्तन्ते, मृत्युसं(म्)सारवर्त्मनि ॥ 3 ॥

हे परंतप! इस उपर्युक्त धर्म में श्रद्धारहित पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसार चक्र में भ्रमण करते रहते हैं ।

मया ततमिदं(म्) सर्वं(ञ्), जगदव्यक्तमूर्तिना ।

मत्स्थानि सर्वभूतानि, न चाहं(न्) तेष्ववस्थितः ॥ 4 ॥

मुझ निराकार परमात्मा से यह सब जगत् जल से बर्फ के सदृश परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अंतर्गत संकल्प के आधार स्थित हैं, किंतु वास्तव में मैं उनमें स्थित नहीं हूँ ।

न च मत्स्थानि भूतानि, पश्य मे योगमैश्वरम् ।

भूतभृन्न च भूतस्थो, ममात्मा भूतभावनः ॥ 5 ॥

वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं, किंतु मेरी ईश्वरीय योगशक्ति को देख कि भूतों का धारण-पोषण करने वाला और भूतों को उत्पन्न करने वाला भी मेरा आत्मा वास्तव में भूतों में स्थित नहीं है ।

यथाकाशस्थितो नित्यं(वँ), वायुः(स्) सर्वत्रगो महान् ।

तथा सर्वाणि भूतानि, मत्स्थानीत्युपधारय ॥ 6 ॥

जैसे आकाश से उत्पन्न सर्वत्र विचरने वाला महान् वायु सदा आकाश में ही स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्प द्वारा उत्पन्न होने से संपूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसा जान ।

सर्वभूतानि कौन्तेय, प्रकृतिं(यँ) यान्ति मामिकाम् ।

कल्पक्षये पुनस्तानि, कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ 7 ॥

हे अर्जुन! कल्पों के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रकृति में लीन होते हैं और कल्पों के आदि में उनको मैं फिर रचता हूँ ।

प्रकृतिं(म्) स्वामवष्टभ्य, विसृजामि पुनः(फ्) पुनः ।

भूतग्राममिमं(ङ्) कृत्स्न-मवशं(म्) प्रकृतेर्वशात् ॥ 8 ॥

अपनी प्रकृति को अंगीकार करके स्वभाव के बल से परतंत्र हुए इस संपूर्ण भूतसमुदाय को बार-बार उनके कर्मों के अनुसार रचता हूँ ।

न च मां(न्) तानि कर्माणि, निबध्नन्ति धनञ्जय।

उदासीनवदासीन-मसक्तं(न्) तेषु कर्मसु ॥ 9 ॥

हे अर्जुन! उन कर्मों में आसक्तिरहित और उदासीन के सदृश स्थित मुझ परमात्मा को वे कर्म नहीं बाँधते ।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः(स्), सूयते सचराचरम् ।

हेतुनानेन कौन्तेय, जगद्विपरिवर्तते ॥ 10 ॥

हे अर्जुन! मुझ अधिष्ठाता के सकाश से प्रकृति चराचर सहित सर्वजगत् को रचती है और इस हेतु से ही यह संसारचक्र घूम रहा है ।

अवजानन्ति मां(म्) मूढा, मानुषीं(न्) तनुमाश्रितम्।

परं(म्) भावमजानन्तो, मम भूतमहेश्वरम्॥ 11 ॥

मेरे परमभाव को न जानने वाले मूढ़ लोग मनुष्य का शरीर धारण करने वाले मुझ संपूर्ण भूतों के महान् ईश्वर को तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमाया से संसार के उद्धार के लिए मनुष्य रूप में विचरते हुए मुझ परमेश्वर को साधारण मनुष्य मानते हैं ।

मोघाशा मोघकर्माणो, मोघज्ञाना विचेतसः ।

राक्षसीमासुरीं(ञ्) चैव, प्रकृतिं(म्) मोहिनीं(म्) श्रिताः ॥ 12 ॥

वे व्यर्थ आशा, व्यर्थ कर्म और व्यर्थ ज्ञान वाले विक्षिप्तचित्त अज्ञानीजन राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृति को ही धारण किए रहते हैं ।

महात्मानस्तु मां(म्) पार्थ, दैवीं(म्) प्रकृतिमाश्रिताः ।

भजन्त्यनन्यमनसो, ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ 13 ॥

परंतु हे कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृति के आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतों का सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मन से युक्त होकर निरंतर भजते हैं ।

सततं(ङ्) कीर्तयन्तो मां(यँ), यतन्तश्च दृढ़व्रताः ।

नमस्यन्तश्च मां(म्) भक्त्या, नित्ययुक्ता उपासते ॥ 14 ॥

वे दृढ़ निश्चय वाले भक्तजन निरंतर मेरे नाम और गुणों का कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्ति के लिए यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यान में युक्त होकर अनन्य प्रेम से मेरी उपासना करते हैं ।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये, यजन्तो मामुपासते।

एकत्वेन पृथक्त्वेन, बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ 15 ॥

दूसरे ज्ञानयोगी मुझ निर्गुण-निराकार ब्रह्म का ज्ञानयज्ञ द्वारा अभिन्नभाव से पूजन करते हुए भी मेरी उपासना करते हैं और दूसरे मनुष्य बहुत प्रकार से स्थित मुझ विराट स्वरूप परमेश्वर की पृथक भाव से उपासना करते हैं ।

अहं(ङ्) क्रतुरहं(यँ) यज्ञः(स्), स्वधाहमहमौषधम् ।

मन्त्रोऽहमहमेवाज्य-महमग्निरहं(म्) हुतम् ॥ 16 ॥

क्रतु मैं हूँ, यज्ञ मैं हूँ, स्वधा मैं हूँ, औषधि मैं हूँ, मंत्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ ।

पिताहमस्य जगतो, माता धाता पितामहः ।

वेद्यं(म्) पवित्रमोङ्कार, ऋक्साम यजुरेव च ॥ 17 ॥

इस संपूर्ण जगत् का धाता अर्थात् धारण करने वाला एवं कर्मों के फल को देने वाला, पिता, माता, पितामह, जानने योग्य, पवित्र ओंकार तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ ।

गतिर्भर्ता प्रभुः(स्) साक्षी, निवासः(श्) शरणं(म्) सुहृत् ।

प्रभवः(फ्) प्रलयः(स्) स्थानं(न्), निधानं(म्) बीजमव्ययम् ॥ 18 ॥

प्राप्त होने योग्य परम धाम, भरण-पोषण करने वाला, सबका स्वामी, शुभाशुभ का देखने वाला, सबका वासस्थान, शरण लेने योग्य, प्रत्युपकार न चाहकर हित करने वाला, सबकी उत्पत्ति-प्रलय का हेतु, स्थिति का आधार, निधान और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ ।

तपाम्यहमहं(वँ) वर्षं(न्), निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।

अमृतं(ञ्) चैव मृत्युश्च, सदसच्चाहमर्जुन ॥ 19 ॥

मैं ही सूर्यरूप से तपता हूँ, वर्षा का आकर्षण करता हूँ और उसे बरसाता हूँ। हे अर्जुन! मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ और सत्-असत् भी मैं ही हूँ।

त्रैविद्या मां(म्) सोमपाः(फ्) पूतपापा-

यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं(म्) प्रार्थयन्ते।

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-

मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ 20 ॥

तीनों वेदों में विधान किए हुए सकाम कर्मों को करने वाले, सोम रस को पीने वाले, पापरहित पुरुष मुझको यज्ञों के द्वारा पूजकर स्वर्ग की प्राप्ति चाहते हैं, वे पुरुष अपने पुण्यों के फलरूप स्वर्गलोक को प्राप्त होकर स्वर्ग में दिव्य देवताओं के भोगों को भोगते हैं ।

ते तं(म्) भुक्त्वा स्वर्गलोकं(वँ) विशालं(ङ्)

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं(वँ) विशन्ति।

एवं(न्) त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना

गतागतं(ङ्) कामकामा लभन्ते ॥ 21 ॥

वे उस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर मृत्यु लोक को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्वर्ग के साधनरूप तीनों वेदों में कहे हुए सकामकर्म का आश्रय लेने वाले और भोगों की कामना वाले पुरुष बार-बार आवागमन को प्राप्त होते हैं, अर्थात् पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग में जाते हैं और पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक में आते हैं ।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां(यँ), ये जनाः(फ्) पर्युपासते ।

तेषां(न्) नित्याभियुक्तानां(यँ), योगक्षेमं(वँ) वहाम्यहम् ॥ 22 ॥

जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वर को निरंतर चिंतन करते हुए निष्कामभाव से भजते हैं, उन नित्य-निरंतर मेरा चिंतन करने वाले पुरुषों का योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ ।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता, यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेऽपि मामेव कौन्तेय, यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ 23 ॥

हे अर्जुन! यद्यपि श्रद्धा से युक्त जो सकाम भक्त दूसरे देवताओं को पूजते हैं, वे भी मुझको ही पूजते हैं, किंतु उनका वह पूजन अविधिपूर्वक अर्थात् अज्ञानपूर्वक है ।

अहं(म्) हि सर्वयज्ञानां(म्), भोक्ता चं प्रभुरेव च ।

न तु मामभिजानन्ति, तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ 24 ॥

क्योंकि संपूर्ण यज्ञों का भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ, परंतु वे मुझ परमेश्वर को तत्त्व से नहीं जानते, इसी से गिरते हैं अर्थात् पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं ।

यान्ति देवव्रता देवान्-पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।

भूतानि यान्ति भूतेज्या, यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ 25 ॥

देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजने वाले पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं और मेरा पूजन करने वाले भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं। इसीलिए मेरे भक्तों का पुनर्जन्म नहीं होता ।

पत्रं(म्) पुष्पं(म्) फलं(न्) तोयं(यँ), यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तदहं(म्) भक्त्युपहृत-मश्नामि प्रयतात्मनः ॥ 26 ॥

जो कोई भक्त मेरे लिए प्रेम से पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्त का प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूप से प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ ।

यत्करोषि यदश्नासि, यज्जुहोषि ददासि यत् ।

यत्तपस्यसि कौन्तेय, तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ 27 ॥

हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर ।

शुभाशुभफलैरेवं(म्), मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।

सन्न्यासयोगयुक्तात्मा, विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ 28 ॥

इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान् के अर्पण होते हैं- ऐसे संन्यासयोग से युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबंधन से मुक्त हो जाएगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।

समोऽहं(म्) सर्वभूतेषु, न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।

ये भजन्ति तु मां(म्) भक्त्या, मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ 29 ॥

मैं सब भूतों में समभाव से व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है, परंतु जो भक्त मुझको प्रेम से भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ ।

अपि चेत्सुदुराचारो, भजते मामनन्यभाक् ।

साधुरेव स मन्तव्यः(स्), सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ 30 ॥

यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भाव से मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चय वाला है। अर्थात् उसने भली भाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर के भजन के समान अन्य कुछ भी नहीं है ।

क्षिप्रं(म्) भवति धर्मात्मा, शश्वच्छान्तिं(न्) निगच्छति ।

कौन्तेय प्रतिजानीहि, न मे भक्तः(फ्) प्रणश्यति ॥ 31 ॥

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहने वाली परम शान्ति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ।

मां(म्) हि पार्थ व्यपाश्रित्य, येऽपि स्युः(फ्) पापयोनयः ।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्- तेऽपि यान्ति परां(ङ्) गतिम् ॥ 32 ॥

हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परमगति को ही प्राप्त होते हैं ।

किं(म्) पुनर्ब्राह्मणाः(फ्) पुण्या, भक्ता राजर्षयस्तथा ।

अनित्यमसुखं(लँ) लोक- मिमं(म्) प्राप्य भजस्व माम् ॥ 33 ॥

फिर इसमें कहना ही क्या है, जो पुण्यशील ब्राह्मण था राजर्षि भक्तजन मेरी शरण होकर परम गति को प्राप्त होते हैं। इसलिए तू सुखरहित और क्षणभंगुर इस मनुष्य शरीर को प्राप्त होकर निरंतर मेरा ही भजन कर ।

मन्मना भव मद्भक्तो, मद्याजी मां(न्) नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि युक्त्वैव-मात्मानं(म्) मत्परायणः ॥ 34 ॥

मुझमें मन वाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करने वाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्मा को मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा ।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ) योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुनसं(वँ)वादे
राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शांतिः(श्) शांतिः(श्) शांतिः ॥

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।

श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता दशमो अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(न्)

दशमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो, श्रृणु मे परमं(वँ) वचः ।

यत्तेऽहं(म्) प्रीयमाणाय, वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ 1 ॥

श्री भगवान् बोले- हे महाबाहो! फिर भी मेरे परम रहस्य और प्रभावयुक्त वचन को सुन, जिसे मैं तुझे अतिशय प्रेम रखने वाले के लिए हित की इच्छा से कहूँगा ।

न मे विदुः(स्) सुरगणाः(फ्), प्रभवं(न्) न महर्षयः ।

अहमादिर्हि देवानां(म्), महर्षीणां(ञ्) च सर्वशः ॥ 2 ॥

मेरी उत्पत्ति को अर्थात् लीला से प्रकट होने को न देवता लोग जानते हैं और न महर्षिजन ही जानते हैं, क्योंकि मैं सब प्रकार से देवताओं का और महर्षियों का भी आदिकारण हूँ ।

यो मामजमनादिं(ञ्) च, वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।

असम्मूढः(स्) स मर्त्येषु, सर्वपापैः(फ्) प्रमुच्यते ॥ 3 ॥

जो मुझको अजन्मा अर्थात् वास्तव में जन्मरहित, अनादि और लोकों का महान् ईश्वर तत्त्व से जानता है, वह मनुष्यों में ज्ञानवान् पुरुष संपूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है ।

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः(ह), क्षमा सत्यं(न्) दमः(श्) शमः ।

सुखं(न्) दुःखं(म्) भवोऽभावो, भयं(ञ्) चाभयमेव च ॥ 4 ॥

निश्चय करने की शक्ति, यथार्थ ज्ञान, असम्मूढ़ता, क्षमा, सत्य, इंद्रियों का वश में करना, मन का निग्रह तथा सुख-दुःख, उत्पत्ति-प्रलय और भय-अभय ऐसे ये प्राणियों के नाना प्रकार के भाव मुझसे ही होते हैं।

अहिं(म्)सा समता तुष्टिस्- तपो दानं(यँ) यशोऽयशः ।

भवन्ति भावा भूतानां(म्), मत्त एव पृथग्विधाः ॥ 5 ॥

अहिंसा, समता, संतोष तप, दान, कीर्ति और अपकीर्ति- जीवों के यह विविध गुण मेरे ही द्वारा उत्पन्न हैं

महर्षयः(स्) सप्त पूर्वे, चत्वारो मनवस्तथा ।

मद्भावा मानसा जाता, येषां(लँ) लोक इमाः(फ्) प्रजाः ॥ 6 ॥

सात महर्षिजन, चार उनसे भी पूर्व में होने वाले सनकादि तथा स्वायम्भुव आदि चौदह मनु- ये मुझमें भाव वाले सब-के-सब मेरे संकल्प से उत्पन्न हुए हैं, जिनकी संसार में यह संपूर्ण प्रजा है ।

एतां(वँ) विभूतिं(यँ) योगं(ञ्) च, मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।

सोऽविकम्पेन योगेन, युज्यते नात्र सं(म्)शयः ॥ 7 ॥

जो पुरुष मेरी इस परमैश्वर्यरूप विभूति को और योगशक्ति को तत्त्व से जानता है वह निश्चल भक्तियोग से युक्त हो जाता है- इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।

अहं(म्) सर्वस्य प्रभवो, मत्तः(स्) सर्वं(म्) प्रवर्तते ।

इति मत्वा भजन्ते मां(म्), बुधा भावसमन्विताः ॥ 8 ॥

मैं वासुदेव ही संपूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण हूँ और मुझसे ही सब जगत् चेष्टा करता है, इस प्रकार समझकर श्रद्धा और भक्ति से युक्त बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वर को ही निरंतर भजते हैं ।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा, बोधयन्तः(फ्) परस्परम् ।

कथयन्तश्च मां(न्) नित्यं(न्), तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ 9 ॥

निरंतर मुझमें मन लगाने वाले और मुझमें ही प्राणों को अर्पण करने वाले भक्तजन मेरी भक्ति की चर्चा के द्वारा आपस में मेरे प्रभाव को जानते हुए तथा गुण और प्रभाव सहित मेरा कथन करते हुए ही निरंतर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेव में ही निरंतर रमण करते हैं ।

तेषां(म्) सततयुक्तानां(म्), भजतां(म्) प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं(न्) तं(यँ), येन मामुपयान्ति ते ॥ 10 ॥

उन निरंतर मेरे ध्यान आदि में लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजने वाले भक्तों को मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।

तेषामेवानुकम्पार्थ- महमज्ञानजं(न्) तमः।

नाशयाम्यात्मभावस्थो, ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ 11 ॥

हे अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करने के लिए उनके अंतःकरण में स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अंधकार को प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपक के द्वारा नष्ट कर देता हूँ।

अर्जुन उवाच

परं(म्) ब्रह्म परं(न्) धाम, पवित्रं(म्) परमं(म्) भवान्।

पुरुषं(म्) शाश्वतं(न्) दिव्य-मादिदेवमजं(वँ) विभुम् ॥ 12 ॥

अर्जुन बोले- आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं, क्योंकि आपको सब ऋषिगण सनातन, दिव्य पुरुष एवं देवों का भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं।

आहुस्त्वामृषयः(स्) सर्वे, देवर्षिर्नारदस्तथा ।

असितो देवलो व्यासः(स्), स्वयं(ञ्) चैव ब्रवीषि मे ॥ 13 ॥

वैसे ही देवर्षि नारद तथा असित और देवल ऋषि तथा महर्षि व्यास भी कहते हैं और आप भी मेरे प्रति कहते हैं।

सर्वमेतदृतं(म्) मन्ये, यन्मां(वँ) वदसि केशव ।

न हि ते भगवन्व्यक्तिं(वँ), विदुर्देवा न दानवाः ॥ 14 ॥

हे केशव! जो कुछ भी मेरे प्रति आप कहते हैं, इस सबको मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन्! आपके लीलामय स्वरूप को न तो दानव जानते हैं और न देवता ही ।

स्वयमेवात्मनात्मानं(वँ), वेत्थ त्वं(म्) पुरुषोत्तम ।

भूतभावन भूतेश, देवदेव जगत्पते ॥ 15 ॥

हे भूतों को उत्पन्न करने वाले! हे भूतों के ईश्वर! हे देवों के देव! हे जगत् के स्वामी! हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपने से अपने को जानते हैं ।

वक्तुमर्हस्यशेषेण, दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।

याभिर्विभूतिभिर्लोका- निमां(म्)स्त्वं(वँ) व्याप्य तिष्ठसि ॥ 16 ॥

इसलिए आप ही उन अपनी दिव्य विभूतियों को संपूर्णता से कहने में समर्थ हैं, जिन विभूतियों द्वारा आप इन सब लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं ।

कथं(वँ) विद्यामहं(यँ) योगिं(म्)स्- त्वां(म्) सदा परिचिन्तयन् ।

केषु केषु च भावेषु, चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ 17 ॥

हे योगेश्वर! मैं किस प्रकार निरंतर चिंतन करता हुआ आपको जानूँ और हे भगवन्! आप किन-किन भावों में मेरे द्वारा चिंतन करने योग्य हैं?

विस्तरेणात्मनो योगं(वँ), विभूतिं(ञ्) च जनार्दन ।

भूयः(ख्) कथय तृप्तिर्हि, शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ 18 ॥

हे जनार्दन! अपनी योगशक्ति को और विभूति को फिर भी विस्तारपूर्वक कहिए, क्योंकि आपके अमृतमय वचनों को सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती अर्थात् सुनने की उत्कंठा बनी ही रहती है ।

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि, दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।

प्राधान्यतः(ख्) कुरुश्रेष्ठ, नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ 19 ॥

श्री भगवान बोले-हे कुरुश्रेष्ठ! अब मैं जो मेरी दिव्य विभूतियाँ हैं, उनको तेरे लिए प्रधानता से कहूँगा; क्योंकि मेरे विस्तार का अंत नहीं है ।

अहमात्मा गुडाकेश, सर्वभूताशयस्थितः ।

अहमादिश्च मध्यं(ञ्) च, भूतानामन्त एव च ॥ 20 ॥

हे अर्जुन! मैं सब भूतों के हृदय में स्थित सबका आत्मा हूँ तथा संपूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अंत भी मैं ही हूँ ।

आदित्यानामहं(वँ) विष्णुर्- ज्योतिषां(म्) रविरं(म्)शुमान् ।

मरीचिर्मरुतामस्मि, नक्षत्राणामहं(म्) शशी ॥ 21 ॥

मैं अदिति के बारह पुत्रों में विष्णु और ज्योतियों में किरणों वाला सूर्य हूँ तथा मैं उनचास वायुदेवताओं का तेज और नक्षत्रों का अधिपति चंद्रमा हूँ ।

वेदानां(म्) सामवेदोऽस्मि, देवानामस्मि वासवः ।

इन्द्रियाणां(म्) मनश्चास्मि, भूतानामस्मि चेतना ॥ 22 ॥

मैं वेदों में सामवेद हूँ, देवों में इंद्र हूँ, इंद्रियों में मन हूँ और भूत प्राणियों की चेतना अर्थात् जीवन-शक्ति हूँ ।

रुद्राणां(म्) शङ्करश्चास्मि, वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।

वसूनां(म्) पावकश्चास्मि, मेरुः(श्) शिखरिणामहम् ॥ 23 ॥

मैं एकादश रुद्रों में शंकर हूँ और यक्ष तथा राक्षसों में धन का स्वामी कुबेर हूँ। मैं आठ वसुओं में अग्नि हूँ और शिखरवाले पर्वतों में सुमेरु पर्वत हूँ ।

पुरोधसां(ञ्) च मुख्यं(म्) मां(वँ), विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।

सेनानीनामहं(म्) स्कन्दः(स्), सरसामस्मि सागरः ॥ 24 ॥

पुरोहितों में मुखिया बृहस्पति मुझको जान। हे पार्थ!मैं सेनापतियों में स्कंद और जलाशयों में समुद्र हूँ।

महर्षीणां(म्) भृगुरहं(ङ्), गिरामस्म्येकमक्षरम् ।

यज्ञानां(ञ्) जपयज्ञोऽस्मि, स्थावराणां(म्) हिमालयः ॥ 25 ॥

मैं महर्षियों में भृगु और शब्दों में एक अक्षर अर्थात् ओंकार हूँ। सब प्रकार के यज्ञों में जपयज्ञ और स्थिर रहने वालों में हिमालय पहाड़ हूँ ।

अश्वत्थः(स्) सर्ववृक्षाणां(न्), देवर्षीणां(ञ्) च नारदः ।

गन्धर्वाणां(ञ्) चित्ररथः(स्), सिद्धानां(ङ्) कपिलो मुनिः ॥ 26 ॥

मैं सब वृक्षों में पीपल का वृक्ष, देवर्षियों में नारद मुनि, गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि हूँ।

उच्चैः(श्)श्रवसमश्वानां(वँ), विद्धि माममृतोद्भवम् ।

ऐरावतं(ङ्) गजेन्द्राणां(न्), नराणां(ञ्) च नराधिपम् ॥ 27 ॥

घोड़ों में अमृत के साथ उत्पन्न होने वाला उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा, श्रेष्ठ हाथियों में ऐरावत नामक हाथी और मनुष्यों में राजा मुझको जान ।

आयुधानामहं(वँ) वज्रं(न्), धेनूनामस्मि कामधुक् ।

प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः(स्), सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ 28 ॥

मैं शस्त्रों में वज्र और गौओं में कामधेनु हूँ। शास्त्रोक्त रीति से सन्तान की उत्पत्ति का हेतु कामदेव हूँ और सर्पों में सर्पराज वासुकि हूँ ।

अनन्तश्चास्मि नागानां(वँ), वरुणो यादसामहम् ।

पितॄणामर्यमा चास्मि, यमः(स्) सं(यँ)यमतामहम् ॥ 29 ॥

मैं नागों में शेषनाग और जलचरों का अधिपति वरुण देवता हूँ और पितरों में अर्यमा नामक पितर तथा शासन करने वालों में यमराज मैं हूँ ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां(ङ्), कालः(ख्) कलयतामहम् ।

मृगाणां(ञ्) च मृगेन्द्रोऽहं(वँ), वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ 30 ॥

मैं दैत्यों में प्रह्लाद और गणना करने वालों का समय हूँ तथा पशुओं में मृगराज सिंह और पक्षियों में गरुड़ हूँ ।

पवनः(फ्) पवतामस्मि, रामः(श्) शस्त्रभृतामहम् ।

झषाणां(म्) मकरश्चास्मि, स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ 31 ॥

मैं पवित्र करने वालों में वायु और शस्त्रधारियों में श्रीराम हूँ तथा मछलियों में मगर हूँ और नदियों में श्री भागीरथी गंगाजी हूँ ।

सर्गाणामादिरन्तश्च, मध्यं(ञ्) चैवाहमर्जुन ।

अध्यात्मविद्या विद्यानां(वँ), वादः(फ्) प्रवदतामहम् ॥ 32 ॥

हे अर्जुन! सृष्टियों का आदि और अंत तथा मध्य भी मैं ही हूँ। मैं विद्याओं में अध्यात्मविद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या और परस्पर विवाद करने वालों का तत्व-निर्णय के लिए किया जाने वाला वाद हूँ ।

अक्षराणामकारोऽस्मि, द्वन्द्वः(स्) सामासिकस्य च ।

अहमेवाक्षयः(ख्) कालो, धाताहं(वँ) विश्वतोमुखः ॥ 33 ॥

मैं अक्षरों में अकार हूँ और समासों में द्वंद्व नामक समास हूँ। अक्षयकाल अर्थात् काल का भी महाकाल तथा सब ओर मुखवाला, विराट्स्वरूप, सबका धारण-पोषण करने वाला भी मैं ही हूँ ।

मृत्युः(स्) सर्वहरश्चाह-मुद्भवश्च भविष्यताम् ।

कीर्तिः(श्) श्रीर्वाक्च नारीणां(म्), स्मृतिर्मेधा धृतिः(ह) क्षमा ॥ 34 ॥

मैं सबका नाश करने वाला मृत्यु और उत्पन्न होने वालों का उत्पत्ति हेतु हूँ तथा स्त्रियों में कीर्ति, श्री, वाक्,स्मृत,मेधा, धृति और क्षमा हूँ ।

बृहत्साम तथा साम्नां(ङ्), गायत्री छन्दसामहम् ।

मासानां(म्) मार्गशीर्षोऽह- मृतूनां(ङ्) कुसुमाकरः ॥ 35 ॥

तथा गायन करने योग्य श्रुतियों में मैं बृहत्साम और छंदों में गायत्री छंद हूँ तथा महीनों में मार्गशीर्ष और ऋतुओं में वसंत मैं हूँ ।

द्यूतं(ञ्) छलयतामस्मि, तेजस्तेजस्विनामहम् ।

जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि, सत्त्वं(म्) सत्त्ववतामहम् ॥ 36 ॥

मैं छल करने वालों में जूआ और प्रभावशाली पुरुषों का प्रभाव हूँ। मैं जीतने वालों का विजय हूँ, निश्चय करने वालों का निश्चय और सात्त्विक पुरुषों का सात्त्विक भाव हूँ ।

वृष्णीनां(वँ) वासुदेवोऽस्मि, पाण्डवानां(न्) धनञ्जयः ।

मुनीनामप्यहं(वँ) व्यासः(ख्), कवीनामुशना कविः ॥ 37 ॥

वृष्णिवंशियों में वासुदेव अर्थात् मैं स्वयं तेरा सखा, पाण्डवों में धनञ्जय अर्थात् तू, मुनियों में वेदव्यास और कवियों में शुक्राचार्य कवि भी मैं ही हूँ ।

दण्डो दमयतामस्मि, नीतिरस्मि जिगीषताम् ।

मौनं(ञ्) चैवास्मि गुह्यानां(ञ्), ज्ञानं(ञ्) ज्ञानवतामहम् ॥ 38 ॥

मैं दमन करने वालों का दंड अर्थात् दमन करने की शक्ति हूँ, जीतने की इच्छावालों की नीति हूँ, गुप्त रखने योग्य भावों का रक्षक मौन हूँ और ज्ञानवानों का तत्त्वज्ञान मैं ही हूँ ।

यच्चापि सर्वभूतानां(म्), बीजं(न्) तदहमर्जुन ।

न तदस्ति विना यत्स्यान्-मया भूतं(ञ्) चराचरम् ॥ 39 ॥

और हे अर्जुन! जो सब भूतों की उत्पत्ति का कारण है, वह भी मैं ही हूँ, क्योंकि ऐसा चर और अचर कोई भी भूत नहीं है, जो मुझसे रहित हो ।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां(वँ), विभूतीनां(म्) परन्तप ।

एष तूद्देशतः(फ्) प्रोक्तो, विभूतेर्विस्तरो मया ॥ 40 ॥

हे परंतप! मेरी दिव्य विभूतियों का अंत नहीं है, मैंने अपनी विभूतियों का यह विस्तार तो तेरे लिए एकदेश से अर्थात् संक्षेप से कहा है ।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं(म्), श्रीमदूर्जितमेव वा ।

तत्तदेवावगच्छ त्वं(म्), मम तेजों(म्)ऽशसम्भवम् ॥ 41 ॥

जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कांतियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उस को तू मेरे तेज के अंश की ही अभिव्यक्ति जान ।

अथवा बहुनैतेन, किं(ञ्) ज्ञातेन तवार्जुन ।

विष्टभ्याहमिदं(ङ्) कृत्स्न-मेकां(म्)शेन स्थितो जगत् ॥ 42 ॥

अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जानने से तेरा क्या प्रायोजन है। मैं इस संपूर्ण जगत् को अपनी योगशक्ति के एक अंश मात्र से धारण करके स्थित हूँ ।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ) योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसं(वँ)वादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शांतिः(श्) शांतिः(श्) शांतिः ॥

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।

श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता अथैकादशो अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(न्)

अथैकादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं(ङ्), गुह्यमध्यात्मसञ्ज्ञितम् ।

यत्त्वयोक्तं(वँ) वचस्तेन, मोहोऽयं(वँ) विगतो मम ॥ 1 ॥

अर्जुन बोले- मुझ पर अनुग्रह करने के लिए आपने जो परम गोपनीय अध्यात्म विषयक वचन अर्थात उपदेश कहा, उससे मेरा यह अज्ञान नष्ट हो गया है ।

भवाप्ययौ हि भूतानां(म्), श्रुतौ विस्तरशो मया ।

त्वत्तः(ख्) कमलपत्राक्ष, माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ 2 ॥

क्योंकि हे कमलनेत्र! मैंने आपसे भूतों की उत्पत्ति और प्रलय विस्तारपूर्वक सुने हैं तथा आपकी अविनाशी महिमा भी सुनी है ।

एवमेतद्यथात्थ त्व- मात्मानं(म्) परमेश्वर ।

द्रष्टुमिच्छामि ते रूप- मैश्वरं(म्) पुरुषोत्तम ॥ 3 ॥

हे परमेश्वर! आप अपने को जैसा कहते हैं, यह ठीक ऐसा ही है, परन्तु हे पुरुषोत्तम! आपके ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज से युक्त ऐश्वर्य-रूप को मैं प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ ।

मन्यसे यदि तच्छक्यं(म्), मया द्रष्टुमिति प्रभो ।

योगेश्वर ततो मे त्वं(न्), दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ 4 ॥

हे प्रभो! यदि मेरे द्वारा आपका वह रूप देखा जाना शक्य है- ऐसा आप मानते हैं, तो हे योगेश्वर! उस अविनाशी स्वरूप का मुझे दर्शन कराइए ।

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि, शतशोऽथ सहस्रशः ।

नानाविधानि दिव्यानि, नानावर्णाकृतीनि च ॥ 5 ॥

श्री भगवान बोले- हे पार्थ! अब तू मेरे सैकड़ों-हजारों नाना प्रकार के और नाना वर्ण तथा नाना आकृतिवाले अलौकिक रूपों को देख ।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रा- नश्विनौ मरुतस्तथा ।

बहून्यदृष्टपूर्वाणि, पश्याश्चर्याणि भारत ॥ 6 ॥

हे भरतवंशी अर्जुन! तू मुझमें आदित्यों को अर्थात अदिति के द्वादश पुत्रों को, आठ वसुओं को, एकादश रुद्रों को, दोनों अश्विनीकुमारों को और उनचास मरुद्गणों को देख तथा और भी बहुत से पहले न देखे हुए आश्चर्यमय रूपों को देख ।

इहैकस्थं(ञ्) जगत्कृत्स्नं(म्), पश्याद्य सचराचरम् ।

मम देहे गुडाकेश, यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ 7 ॥

हे अर्जुन! अब इस मेरे शरीर में एक जगह स्थित चराचर सहित सम्पूर्ण जगत को देख तथा और भी जो कुछ देखना चाहता हो सो देख ।

न तु मां(म्) शक्यसे द्रष्टु- मनेनैव स्वचक्षुषा ।

दिव्यं(न्) ददामि ते चक्षुः(फ्), पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ 8 ॥

परन्तु मुझको तू इन अपने प्राकृत नेत्रों द्वारा देखने में निःसंदेह समर्थ नहीं है, इसी से मैं तुझे दिव्य अर्थात् अलौकिक चक्षु देता हूँ, इससे तू मेरी ईश्वरीय योग शक्ति को देख ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्- महायोगेश्वरो हरिः ।

दर्शयामास पार्थाय, परमं(म्) रूपमैश्वरम् ॥ 9 ॥

संजय बोले- हे राजन्! महायोगेश्वर और सब पापों के नाश करने वाले भगवान ने इस प्रकार कहकर उसके पश्चात् अर्जुन को परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्यस्वरूप दिखलाया ।

अनेकवक्त्रनयन- मनेकाद्भुतदर्शनम् ।

अनेकदिव्याभरणं(न्), दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ 10 ॥

अर्जुन ने उस विश्वरूप में अनेक मुख और नेत्रों से युक्त, अनेक अद्भुत दर्शनों वाले, बहुत से दिव्य भूषणों से युक्त और बहुत से दिव्य शस्त्रों को धारण किए हुए देखा ।

दिव्यमाल्याम्बरधरं(न्), दिव्यगन्धानुलेपनम् ।

सर्वाश्चर्यमयं(न्) देव- मनन्तं(वँ) विश्वतोमुखम् ॥ 11 ॥

दिव्य गंध का सारे शरीर में लेप किए हुए, सब प्रकार के आश्चर्यों से युक्त, सीमारहित और सब ओर मुख किए हुए विराट्स्वरूप परमदेव परमेश्वर को अर्जुन ने देखा ।

दिवि सूर्यसहस्रस्य, भवेद्युगपदुत्थिता ।

यदि भाः(स्) सदृशी सा स्याद्- भासस्तस्य महात्मनः ॥ 12 ॥

आकाश में हजार सूर्यों के एक साथ उदय होने से उत्पन्न जो प्रकाश हो, वह भी उस विश्व रूप परमात्मा के प्रकाश के सदृश कदाचित् ही हो ।

तत्रैकस्थं(ञ्) जगत्कृत्स्नं(म्), प्रविभक्तमनेकधा ।

अपश्यद्देवदेवस्य, शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ 13 ॥

पाण्डुपुत्र अर्जुन ने उस समय अनेक प्रकार से विभक्त अर्थात पृथक-पृथक सम्पूर्ण जगत को देवों के देव श्रीकृष्ण भगवान के उस शरीर में एक जगह स्थित देखा ।

ततः(स्) स विस्मयाविष्टो, हृष्टरोमा धनञ्जयः ।

प्रणम्य शिरसा देवं(ङ्), कृताञ्जलिरभाषत ॥ 14 ॥

उसके अनंतर आश्चर्य से चकित और पुलकित शरीर अर्जुन प्रकाशमय विश्वरूप परमात्मा को श्रद्धा-भक्ति सहित सिर से प्रणाम करके हाथ जोड़कर ।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवां(म्)स्तव देव देहे,

सर्वां(म्)स्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।

ब्रह्माणमीशं(ङ्) कमलासनस्थ-

मृषीं(म्)श्च सर्वानुरगां(म्)श्च दिव्यान् ॥ 15 ॥

अर्जुन बोले- हे देव! मैं आपके शरीर में सम्पूर्ण देवों को तथा अनेक भूतों के समुदायों को, कमल के आसन पर विराजित ब्रह्मा को, महादेव को और सम्पूर्ण ऋषियों को तथा दिव्य सर्पों को देखता हूँ ।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं(म्)-

पश्यामि त्वां(म्) सर्वतोऽनन्तरूपम् ।

नान्तं(न्) न मध्यं(न्) न पुनस्तवादिं(म्)-

पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ 16 ॥

हे सम्पूर्ण विश्व के स्वामिन्! आपको अनेक भुजा, पेट, मुख और नेत्रों से युक्त तथा सब ओर से अनन्त रूपों वाला देखता हूँ। हे विश्वरूप! मैं आपके न अन्त को देखता हूँ, न मध्य को और न आदि को ही ।

किरीटिनं(ङ्) गदिनं(ञ्) चक्रिणं(ञ्) च,

तेजोराशिं(म्) सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।

पश्यामि त्वां(न्) दुर्निरीक्ष्यं(म्) समन्ताद्-

दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ 17 ॥

आपको मैं मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त तथा सब ओर से प्रकाशमान तेज के पुंज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के सदृश ज्योतियुक्त, कठिनता से देखे जाने योग्य और सब ओर से अप्रमेयस्वरूप देखता हूँ ।

त्वमक्षरं(म्) परमं(वँ) वेदितव्यं(न्)-

त्वमस्य विश्वस्य परं(न्) निधानम् ।

त्वमव्ययः(श्) शाश्वतधर्मगोप्ता,

सनातनस्त्वं(म्) पुरुषो मतो मे ॥ 18 ॥

आप ही जानने योग्य परम अक्षर अर्थात परब्रह्म परमात्मा हैं। आप ही इस जगत के परम आश्रय हैं, आप ही अनादि धर्म के रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं। ऐसा मेरा मत है ।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-

मनन्तबाहुं(म्) शशिसूर्यनेत्रम् ।

पश्यामि त्वां(न्) दीप्तहुताशवक्त्रं(म्)-

स्वतेजसा विश्वमिदं(न्) तपन्तम् ॥ 19 ॥

आपको आदि, अंत और मध्य से रहित, अनन्त सामर्थ्य से युक्त, अनन्त भुजावाले, चन्द्र-सूर्य रूप नेत्रों वाले, प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाले और अपने तेज से इस जगत को संतृप्त करते हुए देखता हूँ ।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं(म्) हि,

व्याप्तं(न्) त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।

दृष्ट्वाद्भुतं(म्) रूपमुग्रं(न्) तवेदं(लँ)-

लोकत्रयं(म्) प्रव्यथितं(म्) महात्मन् ॥ 20 ॥

हे महात्मन्! यह स्वर्ग और पृथ्वी के बीच का सम्पूर्ण आकाश तथा सब दिशाएँ एक आपसे ही परिपूर्ण हैं तथा आपके इस अलौकिक और भयंकर रूप को देखकर तीनों लोक अतिव्यथा को प्राप्त हो रहे हैं

अमी हि त्वां(म्) सुरसङ्घा विशन्ति,

केचिद्भीताः(फ्) प्राञ्जलयो गृणन्ति।

स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः(स्),

स्तुवन्ति त्वां(म्) स्तुतिभिः(फ्) पुष्कलाभिः ॥ 21 ॥

वे ही देवताओं के समूह आप में प्रवेश करते हैं और कुछ भयभीत होकर हाथ जोड़े आपके नाम और गुणों का उच्चारण करते हैं तथा महर्षि और सिद्धों के समुदाय कल्याण हो ऐसा कहकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रों द्वारा आपकी स्तुति करते हैं ।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या-

विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।

गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा-

वीक्षन्ते त्वां(वँ) विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ 22 ॥

जो ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य तथा आठ वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार तथा मरुद्गण और पितरों का समुदाय तथा गंधर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धों के समुदाय हैं- वे सब ही विस्मित होकर आपको देखते हैं ।

रूपं(म्) महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं(म्)-

महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।

बहूदरं(म्) बहुदं(म्)ष्ट्राकरालं(न्)-

दृष्ट्वा लोकाः(फ्) प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ 23 ॥

हे महाबाहो! आपके बहुत मुख और नेत्रों वाले, बहुत हाथ, जंघा और पैरों वाले, बहुत उदरों वाले और बहुत-सी दाढ़ों के कारण अत्यन्त विकराल महान रूप को देखकर सब लोग व्याकुल हो रहे हैं तथा मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ ।

नभः(स्)स्पृशं(न्) दीप्तमनेकवर्णं(वँ)-

व्यात्ताननं(न्) दीप्तविशालनेत्रम् ।

दृष्ट्वा हिं त्वां(म्) प्रव्यथितान्तरात्मा,

धृतिं(न्) न विन्दामि शमं(ञ्) च विष्णो ॥ 24 ॥

क्योंकि हे विष्णो! आकाश को स्पर्श करने वाले, दैदीप्यमान, अनेक वर्णों से युक्त तथा फैलाए हुए मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्रों से युक्त आपको देखकर भयभीत अन्तःकरण वाला मैं धीरज और शान्ति नहीं पाता हूँ ।

दं(म्)ष्ट्राकरालानि च ते मुखानि,

दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।

दिशो न जाने न लभे च शर्म,

प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ 25 ॥

दाढ़ों के कारण विकराल और प्रलयकाल की अग्नि के समान प्रज्वलित आपके मुखों को देखकर मैं दिशाओं को नहीं जानता हूँ और सुख भी नहीं पाता हूँ। इसलिए हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न हों ।

अमी च त्वां(न्) धृतराष्ट्रस्य पुत्राः(स्),

सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।

भीष्मो द्रोणः(स्) सूतपुत्रस्तथासौ,

सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ 26 ॥

धृतराष्ट्र के सारे पुत्र अपने समस्त सहायक राजाओं सहित तथा भीष्म, द्रोण, कर्ण एवं हमारे प्रमुख योद्धा भी आपके विकराल मुख में प्रवेश कर रहे हैं।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति,

दं(म्)ष्ट्राकरालानि भयानकानि ।

केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु,

सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ 27 ॥

उनमें से कुछ के शिरों को तो मैं आपके दाँतों के बीच चूर्णित हुआ देख रहा हूँ।

यथा नदीनां(म्) बहवोऽम्बुवेगाः(स्),

समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।

तथा तवामी नरलोकवीरा-

विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ 28 ॥

जैसे नदियों के बहुत-से जल के प्रवाह स्वाभाविक ही समुद्र के ही सम्मुख दौड़ते हैं अर्थात समुद्र में प्रवेश करते हैं, वैसे ही वे नरलोक के वीर भी आपके प्रज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं ।

यथा प्रदीप्तं(ञ्) ज्वलनं(म्) पतं(ङ्)गा-

विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।

तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्-

तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ 29 ॥

जैसे पतंग मोहवश नष्ट होने के लिए प्रज्वलित अग्नि में अतिवेग से दौड़ते हुए प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी अपने नाश के लिए आपके मुखों में अतिवेग से दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं ।

लेलिह्यसे ग्रसमानः(स्) समन्ताल्-

लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।

तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं(म्)-

भासस्तवोग्राः(फ्) प्रतपन्ति विष्णो ॥ 30 ॥

आप उन सम्पूर्ण लोकों को प्रज्वलित मुखों द्वारा ग्रास करते हुए सब ओर से बार-बार चाट रहे हैं। हे विष्णो! आपका उग्र प्रकाश सम्पूर्ण जगत को तेज द्वारा परिपूर्ण करके तपा रहा है ।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो-

नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।

विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं(न्)-

न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ 31 ॥

मुझे बतलाइए कि आप उग्ररूप वाले कौन हैं? हे देवों में श्रेष्ठ! आपको नमस्कार हो। आप प्रसन्न होइए। आदि पुरुष आपको मैं विशेष रूप से जानना चाहता हूँ क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्ति को नहीं जानता ।

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो-

लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।

ऋतेऽपि त्वां(न्) न भविष्यन्ति सर्वे,

येऽवस्थिताः(फ्) प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ 32 ॥

श्री भगवान बोले- मैं लोकों का नाश करने वाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ। इस समय इन लोकों को नष्ट करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ। इसलिए जो प्रतिपक्षियों की सेना में स्थित योद्धा लोग हैं, वे सब तेरे बिना भी नहीं रहेंगे अर्थात तेरे युद्ध न करने पर भी इन सबका नाश हो जाएगा ।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व,

जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं(म्) समृद्धम् ।

मयैवैते निहताः(फ्) पूर्वमेव,

निमित्तमात्रं(म्) भव सव्यसाचिन् ॥ 33 ॥

अतएव तू उठ! यश प्राप्त कर और शत्रुओं को जीतकर धन-धान्य से सम्पन्न राज्य को भोग। ये सब शूरवीर पहले ही से मेरे ही द्वारा मारे हुए हैं। हे सव्यसाचिन! तू तो केवल निमित्तमात्र बन जा।

द्रोणं(ञ्) च भीष्मं(ञ्) च जयद्रथं(ञ्) च,

कर्णं(न्) तथान्यानपि योधवीरान् ।

मया हतां(म्)स्त्वं(ञ्) जहि मा व्यथिष्ठा-

युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ 34 ॥

द्रोणाचार्य और भीष्म पितामह तथा जयद्रथ और कर्ण तथा और भी बहुत से मेरे द्वारा मारे हुए शूरवीर योद्धाओं को तू मार। भय मत कर। निःसंदेह तू युद्ध में वैरियों को जीतेगा। इसलिए युद्ध कर ।

संञ्जय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं(ङ्) केशवस्य,

कृतां(ञ्)जलिर्वेपमानः(ख्) किरीटी ।

नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं(म्),

सगद्गदं(म्) भीतभीतः(फ्) प्रणम्य ॥ 35 ॥

संजय बोले- केशव भगवान के इस वचन को सुनकर मुकुटधारी अर्जुन हाथ जोड़कर काँपते हुए नमस्कार करके, फिर भी अत्यन्त भयभीत होकर प्रणाम करके भगवान श्रीकृष्ण के प्रति गद्‌गद् वाणी से बोले ।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या,

जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।

रक्षां(म्)सि भीतानि दिशो द्रवन्ति,

सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥ 36 ॥

अर्जुन बोले- हे अन्तर्यामिन्! यह योग्य ही है कि आपके नाम, गुण और प्रभाव के कीर्तन से जगत अति हर्षित हो रहा है और अनुराग को भी प्राप्त हो रहा है तथा भयभीत राक्षस लोग दिशाओं में भाग रहे हैं और सब सिद्धगणों के समुदाय नमस्कार कर रहे हैं ।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्,

गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।

अनन्त देवेश जगन्निवास,

त्वमक्षरं(म्) सदसत्तत्परं(यँ) यत् ॥ 37 ॥

हे महात्मन्! ब्रह्मा के भी आदिकर्ता और सबसे बड़े आपके लिए वे कैसे नमस्कार न करें ; क्योंकि हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! जो सत्, असत् और उनसे परे अक्षर अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है, वह आप ही हैं ।

त्वमादिदेवः(फ्) पुरुषः(फ्) पुराणस्-

त्वमस्य विश्वस्य परं(न्) निधानम् ।

वेत्तासि वेद्यं(ञ्) च परं(ञ्) च धाम,

त्वया ततं(वँ) विश्वमनन्तरूप ॥ 38 ॥

आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं, आप इन जगत के परम आश्रय और जानने वाले तथा जानने योग्य और परम धाम हैं। हे अनन्तरूप! आपसे यह सब जगत व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण हैं ।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः(श्) शशाङ्कः(फ्),

प्रजापतिस्त्वं(म्) प्रपितामहश्च।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः(फ्),

पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ 39 ॥

आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजा के स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्मा के भी पिता हैं। आपके लिए हजारों बार नमस्कार! नमस्कार हो!! आपके लिए फिर भी बार-बार नमस्कार! नमस्कार!!

नमः(फ्) पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते,

नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।

अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं(म्)-

सर्वं(म्) समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ 40 ॥

हे अनन्त सामर्थ्यवाले! आपके लिए आगे से और पीछे से भी नमस्कार! हे सर्वात्मन्! आपके लिए सब ओर से ही नमस्कार हो, क्योंकि अनन्त पराक्रमशाली आप समस्त संसार को व्याप्त किए हुए हैं, इससे आप ही सर्वरूप हैं ।

सखेति मत्वा प्रसभं(यँ) यदुक्तं(म्)-

हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।

अजानता महिमानं(न्) तवेदं(म्)-

मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ 41 ॥

आपके इस प्रभाव को न जानते हुए, आप मेरे सखा हैं ऐसा मानकर प्रेम से अथवा प्रमाद से भी मैंने हे कृष्ण!, हे यादव! हे सखे! इस प्रकार कहा। जो कुछ बिना सोचे-समझे हठात् कहा है , उसके लिए आप मुझे क्षमा कर देना।

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि,

विहारशय्यासनभोजनेषु ।

एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं(न्)-

तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ 42 ॥

हे अच्युत! आप जो मेरे द्वारा विनोद के लिए विहार, शय्या, आसन और भोजनादि में अकेले अथवा उन सखाओं के सामने भी अपमानित किए गए हैं- वह सब अपराध अप्रमेयस्वरूप अर्थात अचिन्त्य प्रभाव वाले आपसे मैं क्षमा करवाता हूँ ।

पितासि लोकस्य चराचरस्य,

त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः(ख्) कुतोऽन्यो-

लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ 43 ॥

आप इस चराचर जगत के पिता और सबसे बड़े गुरु एवं अति पूजनीय हैं। हे अनुपम प्रभाववाले! तीनों लोकों में आपके समान भी दूसरा कोई नहीं हैं, फिर अधिक तो कैसे हो सकता है ।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं(म्)-

प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः(फ्),

प्रियः(फ्) प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ 44 ॥

अतएव हे प्रभो! मैं शरीर को भलीभाँति चरणों में निवेदित कर, प्रणाम करके, स्तुति करने योग्य आप ईश्वर को प्रसन्न होने के लिए प्रार्थना करता हूँ। हे देव! पिता जैसे पुत्र के, सखा जैसे सखा के और पति जैसे प्रियतमा पत्नी के अपराध सहन करते हैं- वैसे ही आप भी मेरे अपराध को सहन करने योग्य हैं।

अदृष्टपूर्वं(म्) हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा,

भयेन च प्रव्यथितं(म्) मनो मे।

तदेव मे दर्शय देवरूपं(म्)-

प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ 45 ॥

मैं पहले न देखे हुए आपके इस आश्चर्यमय रूप को देखकर हर्षित हो रहा हूँ और मेरा मन भय से अति व्याकुल भी हो रहा है, इसलिए आप उस अपने चतुर्भुज विष्णु रूप को ही मुझे दिखलाइए। हे देवेश! हे जगन्निवास! प्रसन्न होइए ।

किरीटिनं(ङ्) गदिनं(ञ्) चक्रहस्त-

मिच्छामि त्वां(न्) द्रष्टुमहं(न्) तथैव।

तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन,

सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ 46 ॥

मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किए हुए तथा गदा और चक्र हाथ में लिए हुए देखना चाहता हूँ। इसलिए हे विश्वस्वरूप! हे सहस्रबाहो! आप उसी चतुर्भुज रूप से प्रकट होइए ।

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं(म्)-

रूपं(म्) परं(न्) दर्शितमात्मयोगात् ।

तेजोमयं(वँ) विश्वमनन्तमाद्यं(यँ)-

यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ 47 ॥

श्री भगवान बोले- हे अर्जुन! अनुग्रहपूर्वक मैंने अपनी योगशक्ति के प्रभाव से यह मेरे परम तेजोमय, सबका आदि और सीमारहित विराट् रूप तुझको दिखाया है, जिसे तेरे अतिरिक्त दूसरे किसी ने पहले नहीं देखा था ।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्-

न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।

एवं(म्)रूपः(श्) शक्य अहं(न्) नृलोके,

द्रष्टुं(न्) त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ 48 ॥

हे अर्जुन! मनुष्य लोक में इस प्रकार विश्व रूप वाला मैं न वेद और यज्ञों के अध्ययन से, न दान से, न क्रियाओं से और न उग्र तपों से ही तेरे अतिरिक्त दूसरे द्वारा देखा जा सकता हूँ ।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो-

दृष्ट्वा रूपं(ङ्) घोरमीदृङ्ममेदम्।

व्यपेतभीः(फ्) प्रीतमनाः(फ्) पुनस्त्वं(न्)-

तदेव मे रूपमिदं(म्) प्रपश्य ॥ 49 ॥

मेरे इस प्रकार के इस विकराल रूप को देखकर तुझको व्याकुलता नहीं होनी चाहिए और मूढ़भाव भी नहीं होना चाहिए। तू भयरहित और प्रीतियुक्त मनवाला होकर उसी मेरे इस शंख-चक्र-गदा-पद्मयुक्त चतुर्भुज रूप को फिर देख ।

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं(वँ) वासुदेवस्तथोक्त्वा,

स्वकं(म्) रूपं(न्) दर्शयामास भूयः ।

आश्वासयामास च भीतमेनं(म्)-

भूत्वा पुनः(स्) सौम्यवपुर्महात्मा ॥ 50 ॥

संजय बोले- वासुदेव भगवान ने अर्जुन के प्रति इस प्रकार कहकर फिर वैसे ही अपने चतुर्भुज रूप को दिखाया और फिर महात्मा श्रीकृष्ण ने सौम्यमूर्ति होकर इस भयभीत अर्जुन को धीरज दिया।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं(म्) मानुषं(म्) रूपं(न्), तव सौम्यं(ञ्) जनार्दन।

इदानीमस्मि सं(वँ)वृत्तः(स्), सचेताः(फ्) प्रकृतिं(ङ्) गतः ॥ 51 ॥

अर्जुन बोले- हे जनार्दन! आपके इस अतिशांत मनुष्य रूप को देखकर अब मैं स्थिरचित्त हो गया हूँ और अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त हो गया हूँ ।

श्री भगवान उवाच

सुदुर्दर्शमिदं(म्) रूपं(न्), दृष्टवानसि यन्मम।

देवा अप्यस्य रूपस्य, नित्यं(न्) दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ 52 ॥

श्री भगवान बोले- मेरा जो चतुर्भज रूप तुमने देखा है, वह सुदुर्दर्श है अर्थात् इसके दर्शन बड़े ही दुर्लभ हैं। देवता भी सदा इस रूप के दर्शन की आकांक्षा करते रहते हैं ।

नाहं(वँ) वेदैर्न तपसा, न दानेन न चेज्यया।

शक्य एवं(वँ)विधो द्रष्टुं(न्), दृष्टवानसि मां(यँ) यथा ॥ 53 ॥

जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है- इस प्रकार चतुर्भुज रूप वाला मैं न वेदों से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से ही देखा जा सकता हूँ ।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य, अहमेवं(वँ)विधोऽर्जुन ।

ज्ञातुं(न्) द्रष्टुं(ञ्) च तत्वेन, प्रवेष्टुं(ञ्) च परन्तप ॥ 54 ॥

परन्तु हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्ति के द्वारा इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखने के लिए, तत्व से जानने के लिए तथा प्रवेश करने के लिए अर्थात् एकीभाव से प्राप्त होने के लिए भी शक्य हूँ।

मत्कर्मकृन्मत्परमो, मद्भक्तः(स्) सङ्गवर्जितः ।

निर्वैरः(स्) सर्वभूतेषु, यः(स्) स मामेति पाण्डव ॥ 55 ॥

हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिए सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को करने वाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियों में वैरभाव से रहित है, वह अनन्यभक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है ।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ) योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसं(वँ)वादे

विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शांतिः(श्) शांतिः(श्) शांतिः ॥

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।

श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता द्वादशो अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(न्)

द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

एवं(म्) सततयुक्ता ये, भक्तास्त्वां(म्) पर्युपासते ।

ये चाप्यक्षरमव्यक्तं(न्), तेषां(ङ्) के योगवित्तमाः ॥ 1 ॥

अर्जुन बोले- जो अनन्य प्रेमी भक्तजन पूर्वोक्त प्रकार से निरन्तर आपके भजन-ध्यान में लगे रहकर आप सगुण रूप परमेश्वर को और दूसरे जो केवल अविनाशी सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्म को ही अतिश्रेष्ठ भाव से भजते हैं- उन दोनों प्रकार के उपासकों में अति उत्तम योगवेत्ता कौन हैं?

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां(न्), नित्ययुक्ता उपासते ।

श्रद्धया परयोपेतास्- ते मे युक्ततमा मताः ॥ 2 ॥

श्री भगवान बोले- मुझमें मन को एकाग्र करके निरंतर मेरे भजन-ध्यान में लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वर को भजते हैं, वे मुझको योगियों में अति उत्तम योगी मान्य हैं ।

ये त्वक्षरमनिर्देश्य- मव्यक्तं(म्) पर्युपासते।

सर्वत्रगमचिन्त्यं(ञ्) च, कूटस्थमचलं(न्) ध्रुवम् ॥ 3 ॥

जो लोग अपनी इन्द्रियों को वश में करके तथा सबों के प्रति समभाव रखकर परम सत्य की निराकार कल्पना के अन्तर्गत उस अव्यक्त की पूरी तरह से पूजा करते हैं, वे समस्त लोगों के कल्याण में संलग्न रहकर अंततः मुझे प्राप्त करते हैं।

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं(म्), सर्वत्र समबुद्धयः ।

ते प्राप्नुवन्ति मामेव, सर्वभूतहिते रताः ॥ 4 ॥

परन्तु जो इन्द्रियों की अनुभूति के परे है, सर्वव्यापी है, अकल्पनीय है, अपरिवर्तनीय है, अचल तथा ध्रुव है, वे संपूर्ण भूतों के हित में रत और सब में समभाव वाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषा- मव्यक्तासक्तचेतसाम् ।

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं(न्), देहवद्भिरवाप्यते ॥ 5 ॥

उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्म में आसक्त चित्तवाले पुरुषों के साधन में परिश्रम विशेष है क्योंकि देहाभिमानियों द्वारा अव्यक्तविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है ।

ये तु सर्वाणि कर्माणि, मयि सन्नयस्य मत्पराः ।

अनन्येनैव योगेन, मां(न्) ध्यायन्त उपासते ॥ 6 ॥

परन्तु जो मेरे परायण रहने वाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वर को ही अनन्य भक्तियोग से निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं।

तेषामहं(म्) समुद्धर्ता, मृत्युसं(म्)सारसागरात् ।

भवामि नचिरात्पार्थ, मय्यावेशितचेतसाम् ॥ 7 ॥

हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगाने वाले प्रेमी भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्यु रूप संसार-समुद्र से उद्धार करने वाला होता हूँ ।

मय्येव मन आधत्स्व, मयि बुद्धिं(न्) निवेशय ।

निवसिष्यसि मय्येव, अत ऊर्ध्वं(न्) न सं(म्)शयः ॥ 8 ॥

मुझमें मन को लगा और मुझमें ही बुद्धि को लगा, इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।

अथ चित्तं(म्) समाधातुं(न्), न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।

अभ्यासयोगेन ततो, मामिच्छाप्तुं(न्) धनञ्जय ॥ 9 ॥

यदि तू मन को मुझमें अचल स्थापन करने के लिए समर्थ नहीं है, तो हे अर्जुन! अभ्यासरूप योग द्वारा मुझको प्राप्त होने के लिए इच्छा कर ।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि, मत्कर्मपरमो भव ।

मदर्थमपि कर्माणि, कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ 10 ॥

यदि तू उपर्युक्त अभ्यास में भी असमर्थ है, तो केवल मेरे लिए कर्म करने के ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मों को करता हुआ भी मेरी प्राप्ति रूप सिद्धि को ही प्राप्त होगा ।

अथैतदप्यशक्तोऽसि, कर्तुं(म्) मद्योगमाश्रितः ।

सर्वकर्मफलत्यागं(न्), ततः(ख्) कुरु यतात्मवान् ॥ 11 ॥

यदि मेरी प्राप्ति रूप योग के आश्रित होकर उपर्युक्त साधन को करने में भी तू असमर्थ है, तो मन-बुद्धि आदि पर विजय प्राप्त करने वाला होकर सब कर्मों के फल का त्याग कर ।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्- ज्ञानाद्ध्यानं(वँ) विशिष्यते ।

ध्यानात्कर्मफलत्यागस्- त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ 12 ॥

मर्म को न जानकर किए हुए अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से मुझ परमेश्वर के स्वरूप का ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से सब कर्मों के फल का त्याग श्रेष्ठ है, क्योंकि त्याग से तत्काल ही परम शान्ति होती है ।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां(म्), मैत्रः(ख्) करुण एव च ।

निर्ममो निरहङ्कारः(स्), समदुःखसुखः(ह) क्षमी ॥ 13 ॥

जो पुरुष सब भूतों में द्वेष भाव से रहित, स्वार्थ रहित सबका प्रेमी और हेतु रहित दयालु है तथा ममता से रहित, अहंकार से रहित, सुख-दुःखों की प्राप्ति में सम और क्षमावान है अर्थात् अपराध करने वाले को भी अभय देने वाला है मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

सन्तुष्टः(स्) सततं(यँ) योगी, यतात्मा दृढनिश्चयः।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्- यो मद्भक्तः(स्) स मे प्रियः ॥ 14 ॥

जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियों सहित शरीर को वश में किए हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चय वाला है- वह मुझमें अर्पण किए हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है ।

यस्मान्नोद्विजते लोको, लोकान्नोद्विजते च यः।

हर्षामर्षभयोद्वेगैर्- मुक्तो यः(स्) स च मे प्रियः ॥ 15 ॥

जिससे कोई भी जीव उद्वेग को प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीव से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादि से रहित है वह भक्त मुझको प्रिय है ।

अनपेक्षः(श्) शुचिर्दक्ष, उदासीनो गतव्यथः।

सर्वारम्भपरित्यागी, यो मद्भक्तः(स्) स मे प्रियः ॥ 16 ॥

जो पुरुष आकांक्षा से रहित, बाहर-भीतर से शुद्ध, चतुर, पक्षपात से रहित और दुःखों से छूटा हुआ है- वह सब आरम्भों का त्यागी मेरा भक्त मुझको प्रिय है ।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि, न शोचति न काङ्क्षति।

शुभाशुभपरित्यागी, भक्तिमान्यः(स्) स मे प्रियः ॥ 17 ॥

जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मों का त्यागी है- वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है ।

समः(श्) शत्रौ च मित्रे च, तथा मानापमानयोः।

शीतोष्णसुखदुःखेषु, समः(स्) सङ्गविवर्जितः ॥ 18 ॥

जो शत्रु-मित्र में और मान-अपमान में सम है तथा सर्दी, गर्मी और सुख-दुःखादि द्वंद्वों में सम है और आसक्ति से रहित है ।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी, सन्तुष्टो येन केनचित्।

अनिकेतः(स्) स्थिरमतिर्- भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ 19 ॥

जो निंदा-स्तुति को समान समझने वाला, मननशील और जिस किसी प्रकार से भी शरीर का निर्वाह होने में सदा ही संतुष्ट है और रहने के स्थान में ममता और आसक्ति से रहित है- वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान पुरुष मुझको प्रिय है ।

ये तु धर्म्यामृतमिदं(यँ), यथोक्तं(म्) पर्युपासते।

श्रद्दधाना मत्परमा, भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ 20 ॥

परन्तु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृत को निष्काम प्रेमभाव से सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं ।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ) योगशास्त्रे

श्रीकृष्णार्जुनसं(वँ)वादे भक्तियोगो द्वादशोऽध्यायः ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शांतिः(श्) शांतिः(श्) शांतिः ॥

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।

श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता त्रयोदशो अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(न्)

त्रयोदशोध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं(म्) शरीरं(ङ्) कौन्तेय, क्षेत्रमित्यभिधीयते।

एतद्यो वेत्ति तं(म्) प्राहुः(ह), क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ 1॥

श्री भगवान बोले- हे अर्जुन! यह शरीर 'क्षेत्र' इस नाम से कहा जाता है और इसको जो जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ' इस नाम से उनके तत्व को जानने वाले ज्ञानीजन कहते हैं॥

क्षेत्रज्ञं(ञ्) चापि मां(वँ) विद्धि, सर्वक्षेत्रेषु भारत।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं(यँ), यत्तज्ज्ञानं(म्) मतं(म्) मम ॥ 2॥

हे अर्जुन! तू सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझे ही जान और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ को अर्थात् विकार सहित प्रकृति और पुरुष का जो तत्व से जानना है, वह ज्ञान है- ऐसा मेरा मत है ।

तत्क्षेत्रं(यँ) यच्च यादृक्च, यद्विकारि यतश्च यत्।

स च यो यत्प्रभावश्च, तत्समासेन मे श्रृणु ॥ 3॥

वह क्षेत्र जो और जैसा है तथा जिन विकारों वाला है और जिस कारण से जो हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो और जिस प्रभाववाला है- वह सब संक्षेप में मुझसे सुन ।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं(ञ्), छन्दोभिर्विविधैः(फ्) पृथक् ।

ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव, हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ 4॥

यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का तत्व ऋषियों द्वारा बहुत प्रकार से कहा गया है और विविध वेदमन्त्रों द्वारा भी विभागपूर्वक कहा गया है तथा भलीभाँति निश्चय किए हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्र के पदों द्वारा भी कहा गया है ।

महाभूतान्यहङ्कारो, बुद्धिरव्यक्तमेव च ।

इन्द्रियाणि दशैकं(ञ्) च, पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ 5॥

पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि और मूल प्रकृति भी तथा दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियों के विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ।

इच्छा द्वेषः(स्) सुखं(न्) दुःखं(म्), सङ्घातश्चेतना धृतिः ।

एतत्क्षेत्रं(म्) समासेन, सविकारमुदाहृतम् ॥ 6॥

तथा इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल देहका पिण्ड, चेतना और धृति इस प्रकार विकारों के सहित यह क्षेत्र संक्षेप में कहा गया ।

अमानित्वमदम्भित्व- महिं(म्)सा क्षान्तिरार्जवम् ।

आचार्योपासनं(म्) शौचं(म्), स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ 7॥

श्रेष्ठता के अभिमान का अभाव, दम्भाचरण का अभाव, किसी भी प्राणी को किसी प्रकार भी न सताना, क्षमाभाव, मन-वाणी आदि की सरलता, श्रद्धा-भक्ति सहित गुरु की सेवा, बाहर-भीतर की शुद्धि अन्तःकरण की स्थिरता और मन-इन्द्रियों सहित शरीर का निग्रह ।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्य-मनहङ्कार एव च ।

जन्ममृत्युजराव्याधि-दुःखदोषानुदर्शनम् ॥ 8॥

इस लोक और परलोक के सम्पूर्ण भोगों में आसक्ति का अभाव और अहंकार का भी अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदि में दुःख और दोषों का बार-बार विचार करना ।

असक्तिरनभिष्वङ्गः(फ्), पुत्रदारगृहादिषु ।

नित्यं(ञ्) च समचित्तत्व-मिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ 9॥

पुत्र, स्त्री, घर और धन आदि में आसक्ति का अभाव, ममता का न होना तथा प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति में सदा ही चित्त का सम रहना ।

मयि चानन्ययोगेन, भक्तिरव्यभिचारिणी ।

विविक्तदेशसेवित्व-मरतिर्जनसं(म्)सदि ॥ 10॥

मुझ परमेश्वर में अनन्य योग द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकान्त और शुद्ध देश में रहने का स्वभाव और विषयासक्त मनुष्यों के समुदाय में प्रेम का न होना॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं(न्), तत्वज्ञानार्थदर्शनम् ।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्त- मज्ञानं(यँ) यदतोऽन्यथा ॥ 11॥

अध्यात्म ज्ञान में नित्य स्थिति और तत्वज्ञान के अर्थरूप परमात्मा को ही देखना- यह सब ज्ञान है और जो इसके विपरीत है वह अज्ञान - ऐसा कहा है ।

ज्ञेयं(यँ) यत्तत्प्रवक्ष्यामि, यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।

अनादिमत्परं(म्) ब्रह्म, न सत्तन्नासदुच्यते ॥ 12॥

जो जानने योग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्द को प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा। वह अनादिवाला परमब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही।

सर्वतः(फ्) पाणिपादं(न्) तत्-सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।

सर्वतः(श्) श्रुतिमल्लोके, सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ 13॥

वह सब ओर हाथ-पैर वाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुख वाला तथा सब ओर कान वाला है, क्योंकि वह संसार में सबको व्याप्त करके स्थित है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं(म्), सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।

असक्तं(म्) सर्वभृच्चैव, निर्गुणं(ङ्) गुणभोक्तृ च ॥ 14॥

वह सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को जानने वाला है, परन्तु वास्तव में सब इन्द्रियों से रहित है तथा आसक्ति रहित होने पर भी सबका धारण-पोषण करने वाला और निर्गुण होने पर भी गुणों को भोगने वाला है ।

बहिरन्तश्च भूताना- मचरं(ञ्) चरमेव च ।

सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं(न्), दूरस्थं(ञ्) चान्तिके च तत् ॥ 15॥

वह चराचर सब भूतों के बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचर भी वही है। और वह सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है तथा अति समीप में और दूर में भी स्थित वही है ।

अविभक्तं(ञ्) च भूतेषु, विभक्तमिव च स्थितम् ।

भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं(ङ्), ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ 16॥

वह परमात्मा विभागरहित एक रूप से आकाश के सदृश परिपूर्ण होने पर भी चराचर सम्पूर्ण भूतों में विभक्त-सा स्थित प्रतीत होता है तथा वह जानने योग्य परमात्मा विष्णुरूप से भूतों को धारण-पोषण करने वाला और रुद्ररूप से संहार करने वाला तथा ब्रह्मारूप से सबको उत्पन्न करने वाला है ।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्- तमसः(फ्) परमुच्यते ।

ज्ञानं(ञ्) ज्ञेयं(ञ्) ज्ञानगम्यं(म्), हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ 17॥

वह परब्रह्म ज्योतियों का भी ज्योति एवं माया से अत्यन्त परे कहा जाता है। वह परमात्मा बोधस्वरूप, जानने के योग्य एवं तत्वज्ञान से प्राप्त करने योग्य है और सबके हृदय में विशेष रूप से स्थित है।

इति क्षेत्रं(न्) तथा ज्ञानं(ञ्), ज्ञेयं(ञ्) चोक्तं(म्) समासतः ।

मद्भक्त एतद्विज्ञाय, मद्भावायोपपद्यते ॥ 18॥

इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और जानने योग्य परमात्मा का स्वरूप संक्षेप में कहा गया। मेरा भक्त इसको तत्व से जानकर मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है ।

प्रकृतिं(म्) पुरुषं(ञ्) चैव, विद्ध्यनादी उभावपि ।

विकारां(म्)श्च गुणां(म्)श्चैव, विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ 19॥

प्रकृति और पुरुष- इन दोनों को ही तू अनादि जान और राग-द्वेषादि विकारों को तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थों को भी प्रकृति से ही उत्पन्न जान।

कार्यकरणकर्तृत्वे, हेतुः(फ्) प्रकृतिरुच्यते ।

पुरुषः(स्) सुखदुःखानां(म्), भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ 20॥

कार्य और करण को उत्पन्न करने में हेतु प्रकृति कही जाती है और जीवात्मा सुख-दुःखों के भोक्तपन में अर्थात् भोगने में हेतु कहा जाता है ।

पुरुषः(फ्) प्रकृतिस्थो हि, भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।

कारणं(ङ्) गुणस(ङ्)गोऽस्य, सदसद्योनिजन्मसु ॥ 21॥

प्रकृति में स्थित ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थों को भोगता है और इन गुणों का संग ही इस जीवात्मा के अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है।

उपद्रष्टानुमन्ता च, भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।

परमात्मेति चाप्युक्तो, देहेऽस्मिन्पुरुषः(फ्) परः ॥ 22॥

इस देह में स्थित यह आत्मा वास्तव में परमात्मा ही है। वह साक्षी होने से उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देने वाला होने से अनुमन्ता, सबका धारण-पोषण करने वाला होने से भर्ता, जीवरूप से भोक्ता, ब्रह्मा आदि का भी स्वामी होने से महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होने से परमात्मा- ऐसा कहा गया है ।

य एवं(वँ) वेत्ति पुरुषं(म्), प्रकृतिं(ञ्) च गुणैः(स्) सह ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि, न स भूयोऽभिजायते ॥ 23॥

इस प्रकार पुरुष को और गुणों के सहित प्रकृति को जो मनुष्य तत्व से जानता है , वह सब प्रकार से कर्तव्य कर्म करता हुआ भी फिर नहीं जन्मता ।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति, केचिदात्मानमात्मना ।

अन्ये साङ्ख्येन योगेन, कर्मयोगेन चापरे ॥ 24॥

उस परमात्मा को कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि से ध्यान के द्वारा हृदय में देखते हैं, अन्य कितने ही ज्ञानयोग द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोग द्वारा देखते हैं अर्थात प्राप्त करते हैं।

अन्ये त्वेवमजानन्तः(श्), श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।

तेऽपि चातितरन्त्येव, मृत्युं(म्) श्रुतिपरायणाः ॥ 25॥

परन्तु इनसे दूसरे अर्थात जो मंदबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरों से अर्थात् तत्व के जानने वाले पुरुषों से सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागर को निःसंदेह तर जाते हैं ।

यावत्संज्ञायते किञ्चित्- सत्त्वं(म्) स्थावरजङ्गमम् ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसं(यँ)योगात्-तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ 26॥

हे अर्जुन! यावन्मात्र जितने भी स्थावर-जंगम प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सबको तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न जान ।

समं(म्) सर्वेषु भूतेषु, तिष्ठन्तं(म्) परमेश्वरम् ।

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं(यँ), यः(फ्) पश्यति स पश्यति ॥ 27॥

जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतों में परमेश्वर को नाशरहित और समभाव से स्थित देखता है वही यथार्थ देखता है ।

समं(म्) पश्यन्हि सर्वत्र, समवस्थितमीश्वरम् ।

न हिनस्त्यात्मनात्मानं(न्), ततो याति परां(ङ्) गतिम् ॥ 28॥

क्योंकि जो पुरुष सबमें समभाव से स्थित परमेश्वर को समान देखता हुआ अपने द्वारा अपने को नष्ट नहीं करता, इससे वह परम गति को प्राप्त होता है ।

प्रकृत्यैव च कर्माणि, क्रियमाणानि सर्वशः ।

यः(फ्) पश्यति तथात्मान-मकर्तारं(म्) स पश्यति ॥ 29॥

और जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति द्वारा ही किए जाते हुए देखता है और आत्मा को अकर्ता देखता है, वही यथार्थ देखता है ।

यदा भूतपृथग्भाव-मेकस्थमनुपश्यति ।

तत एव च विस्तारं(म्), ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ 30॥

जिस क्षण यह पुरुष भूतों के पृथक-पृथक भाव को एक परमात्मा में ही स्थित तथा उस परमात्मा से ही सम्पूर्ण भूतों का विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्-परमात्मायमव्ययः ।

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय, न करोति न लिप्यते ॥ 31॥

हे अर्जुन! अनादि होने से और निर्गुण होने से यह अविनाशी परमात्मा शरीर में स्थित होने पर भी वास्तव में न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है ।

यथा सर्वगतं(म्) सौक्ष्म्या-दाकाशं(न्) नोपलिप्यते ।

सर्वत्रावस्थितो देहे, तथात्मा नोपलिप्यते ॥ 32॥

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही देह में सर्वत्र स्थित आत्मा निर्गुण होने के कारण देह के गुणों से लिप्त नहीं होता ।

यथा प्रकाशयत्येकः(ख्), कृत्स्नं(लँ) लोकमिमं(म्) रविः ।

क्षेत्रं(ङ्) क्षेत्री तथा कृत्स्नं(म्), प्रकाशयति भारत ॥ 33॥

हे अर्जुन! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेव-मन्तरं(ञ्) ज्ञानचक्षुषा ।

भूतप्रकृतिमोक्षं(ञ्) च, ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ 34॥

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को तथा कार्य सहित प्रकृति से मुक्त होने को जो पुरुष ज्ञान नेत्रों द्वारा तत्व से जानते हैं, वे महात्माजन परम ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ) योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसं(वँ)वादे

क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शांतिः(श्) शांतिः(श्) शांतिः ॥

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।

श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता चतुर्दशो अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(न्)

चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

परं(म्) भूयः(फ्) प्रवक्ष्यामि, ज्ञानानां(ञ्) ज्ञानमुत्तमम् ।

यज्ज्ञात्वा मुनयः(स्) सर्वे, परां(म्) सिद्धिमितो गताः ॥ 1 ॥

श्री भगवान ने कहा - हे अर्जुन! समस्त ज्ञानों में भी सर्वश्रेष्ठ इस परम-ज्ञान को मैं तेरे लिये फिर से कहता हूँ, जिसे जानकर सभी संत-मुनियों ने इस संसार से मुक्त होकर परम-सिद्धि को प्राप्त किया है।

इदं(ञ्) ज्ञानमुपाश्रित्य, मम साधर्म्यमागताः ।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते, प्रलये न व्यथन्ति च ॥ 2 ॥

इस ज्ञान में स्थिर होकर वह मनुष्य मेरे जैसे स्वभाव को ही प्राप्त होता है, वह जीव न तो सृष्टि के प्रारम्भ में फिर से उत्पन्न ही होता हैं और न ही प्रलय के समय कभी व्याकुल होता हैं।

मम योनिर्महद्ब्रह्म, तस्मिन्गर्भं(न्) दधाम्यहम् ।

सम्भवः(स्) सर्वभूतानां(न्), ततो भवति भारत ॥ 3 ॥

हे भरतवंशी! मेरी यह आठ तत्वों वाली जड़ प्रकृति ही समस्त वस्तुओं को उत्पन्न करने वाली योनि है और मैं ही ब्रह्म रूप में चेतन-रूपी बीज को स्थापित करता हूँ, इस जड़-चेतन के संयोग से ही सभी चर-अचर प्राणीयों का जन्म सम्भव होता है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय, मूर्तयः(स्) सम्भवन्ति याः ।

तासां(म्) ब्रह्म महद्योनि-रहं(म्) बीजप्रदः(फ्) पिता ॥ 4 ॥

हे कुन्तीपुत्र! समस्त योनियों जो भी शरीर धारण करने वाले प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सभी को धारण करने वाली ही जड़ प्रकृति ही माता है और मैं ही ब्रह्म रूपी बीज को स्थापित करने वाला पिता हूँ।

सत्त्वं(म्) रजस्तम इति, गुणाः(फ्) प्रकृतिसम्भवाः ।

निबध्नन्ति महाबाहो, देहे देहिनमव्ययम्॥ 5 ॥

हे अर्जुन! सात्विक गुण, राजसिक गुण और तामसिक गुण यह तीनों गुण भौतिक प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं और अविनाशी जीवात्मा शरीर में बँध जाते हैं।

तत्र सत्त्वं(न्) निर्मलत्वात्- प्रकाशकमनामयम् ।

सुखसङ्गेन बध्नाति, ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ 6 ॥

हे निष्पाप अर्जुन! सतोगुण अन्य गुणों की अपेक्षा अधिक शुद्ध होने के कारण पाप-कर्मों से जीव को मुक्त करके आत्मा को प्रकाशित करने वाला होता है, जिससे जीव सुख और ज्ञान के अहंकार में बँध जाता है।

रजो रागात्मकं(वँ) विद्धि, तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।

तन्निबध्नाति कौन्तेय, कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ 7 ॥

हे कुन्तीपुत्र! रजोगुण को कामनाओं और लोभ के कारण उत्पन्न हुआ समझ, जिसके कारण शरीरधारी जीव सकाम-कर्मों में बँध जाता है।

तमस्त्वज्ञानजं(वँ) विद्धि, मोहनं(म्) सर्वदेहिनाम् ।

प्रमादालस्यनिद्राभिस्- तन्निबध्नाति भारत ॥ 8 ॥

हे भरतवंशी! तमोगुण को शरीर के प्रति मोह के कारण अज्ञान से उत्पन्न हुआ समझ, जिसके कारण जीव प्रमाद , आलस्य और निद्रा द्वारा बँध जाता है।

सत्त्वं(म्) सुखे सञ्जयति, रजः(ख्) कर्मणि भारत ।

ज्ञानमावृत्य तु तमः(फ्), प्रमादे सञ्जयत्युत ॥ 9 ॥

हे अर्जुन! सतोगुण मनुष्य को सुख में बाँधता है, रजोगुण मनुष्य को सकाम कर्म में बाँधता है और तमोगुण मनुष्य के ज्ञान को ढक कर प्रमाद में बाँधता है।

रजस्तमश्चाभिभूय, सत्त्वं(म्) भवति भारत ।

रजः(स्) सत्त्वं(न्) तमश्चैव, तमः(स्) सत्त्वं(म्) रजस्तथा ॥ 10 ॥

हे भरतवंशी अर्जुन! रजोगुण और तमोगुण के घटने पर सतोगुण बढ़ता है, सतोगुण और रजोगुण के घटने पर तमोगुण बढ़ता है, इसी प्रकार तमोगुण और सतोगुण के घटने पर तमोगुण बढ़ता है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्- प्रकाश उपजायते ।

ज्ञानं(यँ) यदा तदा विद्याद्- विवृद्धं(म्) सत्त्वमित्युत ॥ 11 ॥

जिस समय इस के शरीर सभी नौ द्वारों में ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न होता है, उस समय सतोगुण विशेष बृद्धि को प्राप्त होता है।

लोभः(फ्) प्रवृत्तिरारम्भः(ख्), कर्मणामशमः(स्) स्पृहा ।

रजस्येतानि जायन्ते, विवृद्धे भरतर्षभ ॥ 12 ॥

हे भरतवंशीयों में श्रेष्ठ! जब रजोगुण विशेष बृद्धि को प्राप्त होता है तब लोभ के उत्पन्न होने कारण फल की इच्छा से कार्यों को करने की प्रवृत्ति और मन की चंचलता के कारण विषय-भोगों को भोगने की अनियन्त्रित इच्छा बढ़ने लगती है।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च, प्रमादो मोह एव च ।

तमस्येतानि जायन्ते, विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ 13 ॥

हे अर्जुन! जब तमोगुण विशेष बृद्धि को प्राप्त होता है तब अज्ञान रूपी अन्धकार, कर्तव्य-कर्मों को न करने की प्रवृत्ति, पागलपन की अवस्था और मोह के कारण न करने योग्य कार्य करने की प्रवृत्ति बढने लगती हैं।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु, प्रलयं(यँ) याति देहभृत् ।

तदोत्तमविदां(लँ) लोका- नमलान्प्रतिपद्यते ॥ 14 ॥

जब कोई मनुष्य सतोगुण की वृद्धि होने पर मृत्यु को प्राप्त होता है, तब वह उत्तम कर्म करने वालों के निर्मल स्वर्ग लोकों को प्राप्त होता है।

रजसि प्रलयं(ङ्) गत्वा, कर्मसङ्गिषु जायते ।

तथा प्रलीनस्तमसि, मूढयोनिषु जायते ॥ 15 ॥

जब कोई मनुष्य रजोगुण की बृद्धि होने पर मृत्यु को प्राप्त होता है तब वह सकाम कर्म करने वाले मनुष्यों में जन्म लेता है और उसी प्रकार तमोगुण की बृद्धि होने पर मृत्यु को प्राप्त मनुष्य पशु-पक्षियों आदि निम्न योनियों में जन्म लेता है ।

कर्मणः(स्) सुकृतस्याहुः(स्), सात्त्विकं(न्) निर्मलं(म्) फलम् ।

रजसस्तु फलं(न्) दुःख- मज्ञानं(न्) तमसः(फ्) फलम् ॥ 16 ॥

सतोगुण में किये गये कर्म का फल सुख और ज्ञान युक्त निर्मल फल कहा गया है, रजोगुण में किये गये कर्म का फल दुःख कहा गया है और तमोगुण में किये गये कर्म का फल अज्ञान कहा गया है।

सत्त्वात्संज्ञायते ज्ञानं(म्), रजसो लोभ एव च ।

प्रमादमोहौ तमसो, भवतोऽज्ञानमेव च ॥ 17 ॥

सतोगुण से वास्तविक ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से निश्चित रूप से लोभ ही उत्पन्न होता है और तमोगुण से निश्चित रूप से प्रमाद, मोह, अज्ञान ही उत्पन्न होता हैं।

ऊर्ध्व(ङ्) गच्छन्ति सत्त्वस्था, मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।

जघन्यगुणवृत्तिस्था, अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ 18 ॥

सतोगुण में स्थित जीव स्वर्ग के उच्च लोकों को जाता हैं, रजोगुण में स्थित जीव मध्य में पृथ्वी-लोक में ही रह जाते हैं और तमोगुण में स्थित जीव पशु आदि नीच योनियों में नरक को प्राप्त होते हैं।

नान्यं(ङ्) गुणेभ्यः(ख्) कर्तारं(यँ), यदा द्रष्टानुपश्यति ।

गुणेभ्यश्च परं(वँ) वेत्ति, मद्भावं(म्) सोऽधिगच्छति ॥ 19 ॥

जब कोई मनुष्य प्रकृति के तीनों गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता है और स्वयं को दृष्टा रूप से देखता है तब वह प्रकृति के तीनों गुणों से परे स्थित होकर मुझ परमात्मा को जानकर मेरे दिव्य स्वभाव को ही प्राप्त होता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्- देही देहसमुद्भवान् ।

जन्ममृत्युजरादुःखैर्- विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ 20 ॥

जब शरीरधारी जीव प्रकृति के इन तीनों गुणों को पार कर जाता है तब वह जन्म, मृत्यु, बुढापा तथा सभी प्रकार के कष्टों से मुक्त होकर इसी जीवन में परम-आनन्द स्वरूप अमृत का भोग करता है।

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेता- नतीतो भवति प्रभो ।

किमाचारः(ख्) कथं(ञ्) चैतां(म्)स्-त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ 21 ॥

अर्जुन ने पूछा - हे प्रभु! प्रकृति के तीनों गुणों को पार किया हुआ मनुष्य किन लक्षणों के द्वारा जाना जाता है और उसका आचरण कैसा होता है तथा वह मनुष्य प्रकृति के तीनों गुणों को किस प्रकार से पार कर पाता है ?

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं(ञ्) च प्रवृत्तिं(ञ्) च, मोहमेव च पाण्डव ।

न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि, न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ 22 ॥

श्री भगवान ने कहा - जो मनुष्य ईश्वरीय ज्ञान रूपी प्रकाश तथा कर्म करने में आसक्ति तथा मोह रूपी अज्ञान के बढने पर कभी भी उनसे घृणा नहीं करता है तथा समान भाव में स्थित होकर न तो उनमें प्रवृत ही होता है और न ही उनसे निवृत होने की इच्छा ही करता है।

उदासीनवदासीनो, गुणैर्यो न विचाल्यते ।

गुणा वर्तन्त इत्येव, योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ 23 ॥

जो उदासीन भाव में स्थित रहकर किसी भी गुण के आने-जाने से विचलित नही होता है और गुणों को ही कार्य करते हुए जानकर एक ही भाव में स्थिर रहता है।

समदुःखसुखः(स्) स्वस्थः(स्), समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।

तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्-तुल्यनिन्दात्मसं(म्)स्तुतिः ॥ 24 ॥

जो सुख और दुख में समान भाव में स्थित रहता है, जो अपने आत्म-भाव में स्थित रहता है, जो मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण को एक समान समझता है, जिसके लिये न तो कोई प्रिय होता है और न ही कोई अप्रिय होता है, तथा जो निन्दा और स्तुति में अपना धीरज नहीं खोता है।

मानापमानयोस्तुल्यस्- तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।

सर्वारम्भपरित्यागी, गुणातीतः(स्) स उच्यते ॥ 25 ॥

जो मान और अपमान को एक समान समझता है, जो मित्र और शत्रु के पक्ष में समान भाव में रहता है तथा जिसमें सभी कर्मों के करते हुए भी कर्तापन का भाव नही होता है, ऎसे मनुष्य को प्रकृति के गुणों से अतीत कहा जाता है।

मां(ञ्) च योऽव्यभिचारेण, भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान्समतीत्यैतान्- ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ 26 ॥

जो मनुष्य हर परिस्थिति में बिना विचलित हुए अनन्य-भाव से मेरी भक्ति में स्थिर रहता है, वह भक्त प्रकृति के तीनों गुणों को अति-शीघ्र पार करके ब्रह्म-पद पर स्थित हो जाता है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाह- ममृतस्याव्ययस्य च ।

शाश्वतस्य च धर्मस्य, सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ 27 ॥

उस अविनाशी ब्रह्म-पद का मैं ही अमृत स्वरूप, शाश्वत स्वरूप, धर्म स्वरूप और परम-आनन्द स्वरूप एक-मात्र आश्रय हूँ।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ) योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसं(वँ)वादे

गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥14॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शांतिः(श्) शांतिः(श्) शांतिः ॥

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।

श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता पञ्चदशो अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(न्)

पञ्चदशोध्यायः

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधः(श्) शाख- मश्वत्थं(म्) प्राहुरव्ययम्।

छन्दां(म्)सि यस्य पर्णानि, यस्तं(वँ) वेद स वेदवित् ॥ 1 ॥

श्री भगवान ने कहा - हे अर्जुन! इस संसार को अविनाशी वृक्ष कहा गया है, जिसकी जड़ें ऊपर की ओर हैं और शाखाएँ नीचे की ओर तथा इस वृक्ष के पत्ते वैदिक स्तोत्र है, जो इस अविनाशी वृक्ष को जानता है वही वेदों का जानकार है ।

अधश्चोर्ध्वं(म्) प्रसृतास्तस्य शाखा,

गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।

अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि,

कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ 2 ॥

इस संसार रूपी वृक्ष की समस्त योनियाँ रूपी शाखाएँ नीचे और ऊपर सभी ओर फ़ैली हुई हैं, इस वृक्ष की शाखाएँ प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा विकसित होती है, इस वृक्ष की इन्द्रिय-विषय रूपी कोंपलें है, इस वृक्ष की जड़ों का विस्तार नीचे की ओर भी होता है जो कि सकाम-कर्म रूप से मनुष्यों के लिये फल रूपी बन्धन उत्पन्न करती हैं ।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते,

नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।

अश्वत्थमेनं(म्) सुविरूढमूल-

मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ 3 ॥

इस संसार रूपी वृक्ष के वास्तविक स्वरूप का अनुभव इस जगत में नहीं किया जा सकता है क्योंकि न तो इसका आदि है और न ही इसका अन्त है और न ही इसका कोई आधार ही है, अत्यन्त दृड़ता से स्थित इस वृक्ष को केवल वैराग्य रूपी हथियार के द्वारा ही काटा जा सकता है ।

ततः(फ्) पदं(न्) तत्परिमार्गितव्यं(यँ),

यस्मिन्गाता न निवर्तन्ति भूयः ।

तमेव चाद्यं(म्) पुरुषं(म्) प्रपद्ये,

यतः(फ्) प्रवृत्तिः(फ्) प्रसृता पुराणी ॥ 4 ॥

वैराग्य रूपी हथियार से काटने के बाद मनुष्य को उस परम-लक्ष्य परमात्मा के मार्ग की खोज करनी चाहिये, जिस मार्ग पर पहुँचा हुआ मनुष्य इस संसार में फिर कभी वापस नही लौटता है, फिर मनुष्य को उस परमात्मा के शरणागत हो जाना चाहिये, जिस परमात्मा से इस आदि-रहित संसार रूपी वृक्ष की उत्पत्ति और विस्तार होता है ।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा,

अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः(स्) सुखदुःखसञ्ज्ञैर्-

गच्छन्त्यमूढाः(फ्) पदमव्ययं(न्) तत् ॥ 5 ॥

जो मनुष्य मान-प्रतिष्ठा और मोह से मुक्त है तथा जिसने सांसारिक विषयों में लिप्त मनुष्यों की संगति को त्याग दिया है, जो निरन्तर परमात्म स्वरूप में स्थित रहता है, जिसकी सांसारिक कामनाएँ पूर्ण रूप से समाप्त हो चुकी है और जिसका सुख-दुःख नाम का भेद समाप्त हो गया है ऐसा मोह से मुक्त हुआ मनुष्य उस अविनाशी परम-पद परम-धाम को प्राप्त करता हैं ।

न तद्भासयते सूर्यो, न शशाङ्को न पावकः ।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते, तद्धाम परमं(म्) मम ॥ 6 ॥

उस परम-धाम को न तो सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा प्रकाशित करता है और न ही अग्नि प्रकाशित करती है, जहाँ पहुँचकर कोई भी मनुष्य इस संसार में वापस नहीं आता है वही मेरा परम-धाम है ।

ममैवां(म्)शो जीवलोके, जीवभूतः(स्) सनातनः ।

मनः(ष्) षष्ठानीन्द्रियाणि, प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ 7 ॥

हे अर्जुन! संसार में प्रत्येक शरीर में स्थित जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है, जो कि मन सहित छहों इन्द्रियों के द्वारा प्रकृति के अधीन होकर कार्य करता है।

शरीरं(यँ) यदवाप्नोति, यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।

गृहीत्वैतानि सं(यँ)याति, वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ 8 ॥

शरीर का स्वामी जीवात्मा छहों इन्द्रियों के कार्यों को संस्कार रूप में ग्रहण करके एक शरीर का त्याग करके दूसरे शरीर में उसी प्रकार चला जाता है जिस प्रकार वायु गन्ध को एक स्थान से ग्रहण करके दूसरे स्थान में ले जाती है ।

श्रोत्रं(ञ्) चक्षुः(स्) स्पर्शनं(ञ्) च, रसनं(ङ्) घ्राणमेव च।

अधिष्ठाय मनश्चायं(वँ्), विषयानुपसेवते ॥ 9 ॥

इस प्रकार दूसरे शरीर में स्थित होकर जीवात्मा कान, आँख, त्वचा, जीभ, नाक और मन की सहायता से ही विषयों का भोग करता है ।

उत्क्रामन्तं(म्) स्थितं(वँ्) वापि, भुञ्जानं(वँ्) वा गुणान्वितम्।

विमूढा नानुपश्यन्ति, पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ 10 ॥

जीवात्मा शरीर का किस प्रकार त्याग कर सकती है, किस प्रकार शरीर में स्थित रहती है और किस प्रकार प्रकृति के गुणों के अधीन होकर विषयों का भोग करती है, मूर्ख मनुष्य कभी भी इस प्रक्रिया को नहीं देख पाते हैं केवल वही मनुष्य देख पाते हैं जिनकी आँखें ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित हो गयी हैं ।

यतन्तो योगिनश्चैनं(म्), पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो, नैनं(म्) पश्यन्त्यचेतसः ॥ 11 ॥

योग के अभ्यास में प्रयत्नशील मनुष्य ही अपने हृदय में स्थित इस आत्मा को देख सकते हैं, किन्तु जो मनुष्य योग के अभ्यास में नहीं लगे हैं ऐसे अज्ञानी प्रयत्न करते रहने पर भी इस आत्मा को नहीं देख पाते हैं ।

यदादित्यगतं(न्) तेजो, जगद्भासयतेऽखिलम् ।

यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ, तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ 12 ॥

हे अर्जुन! जो प्रकाश सूर्य में स्थित है जिससे समस्त संसार प्रकाशित होता है, जो प्रकाश चन्द्रमा में स्थित है और जो प्रकाश अग्नि में स्थित है, उस प्रकाश को तू मुझसे ही उत्पन्न समझ ।

गामाविश्य च भूतानि, धारयाम्यहमोजसा ।

पुष्णामि चौषधीः(स्) सर्वाः(स्), सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ 13 ॥

मैं ही प्रत्येक लोक में प्रवेश करके अपनी शक्ति से सभी प्राणीयों को धारण करता हूँ और मैं ही चन्द्रमा के रूप से वनस्पतियों में जीवन-रस बनकर समस्त प्राणीयों का पोषण करता हूँ ।

अहं(वँ) वैश्वानरो भूत्वा, प्राणिनां(न्) देहमाश्रितः ।

प्राणापानसमायुक्तः(फ्), पचाम्यन्नं(ञ्) चतुर्विधम् ॥ 14 ॥

मैं ही पाचन-अग्नि के रूप में समस्त जीवों के शरीर में स्थित रहता हूँ, मैं ही प्राण वायु और अपान वायु को संतुलित रखते हुए चार प्रकार के अन्नों को पचाता हूँ ।

सर्वस्य चाहं(म्) हृदि सन्निविष्टो-

मत्तः(स्) स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं(ञ्) च ।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो,

वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ 15 ॥

मैं ही समस्त जीवों के हृदय में आत्मा रूप में स्थित हूँ, मेरे द्वारा ही जीव को वास्तविक स्वरूप की स्मृति, विस्मृति और ज्ञान होता है, मैं ही समस्त वेदों के द्वारा जानने योग्य हूँ, मुझसे ही समस्त वेद उत्पन्न होते हैं और मैं ही समस्त वेदों को जानने वाला हूँ।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके, क्षरश्चाक्षर एव च ।

क्षरः(स्) सर्वाणि भूतानि, कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ 16 ॥

हे अर्जुन! संसार में दो प्रकार के ही जीव होते हैं एक नाशवान और दूसरे अविनाशी, इनमें समस्त जीवों के शरीर तो नाशवान होते हैं और समस्त जीवों की आत्मा को अविनाशी कहा जाता है ।

उत्तमः(फ्) पुरुषस्त्वन्यः(फ्), परमात्मेत्युदाहृतः ।

यो लोकत्रयमाविश्य, बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ 17 ॥

परन्तु इन दोनों के अतिरिक्त एक श्रेष्ठ पुरुष है जिसे परमात्मा कहा जाता है, वह अविनाशी भगवान तीनों लोकों में प्रवेश करके सभी प्राणीयों का भरण-पोषण करता है ।

यस्मात्क्षरमतीतोऽह- मक्षरादपि चोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च, प्रथितः(फ्) पुरुषोत्तमः ॥ 18 ॥

क्योंकि मैं ही क्षर और अक्षर दोनों से परे स्थित सर्वोत्तम हूँ, इसलिये इसलिए संसार में तथा वेदों में पुरुषोत्तम रूप में विख्यात हूँ ।

यो मामेवमसम्मूढो, जानाति पुरुषोत्तमम् ।

स सर्वविद्भजति मां(म्), सर्वभावेन भारत ॥ 19 ॥

हे भरतवंशी अर्जुन! जो मनुष्य इस प्रकार मुझको संशय-रहित होकर भगवान रूप से जानता है, वह मनुष्य मुझे ही सब कुछ जानकर सभी प्रकार से मेरी ही भक्ति करता है ।

इति गुह्यतमं(म्) शास्त्र- मिदमुक्तं(म्) मयानघ ।

एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्- कृतकृत्यश्च भारत ॥ 20 ॥

हे निष्पाप अर्जुन! इस प्रकार यह शास्त्रों का अति गोपनीय रहस्य मेरे द्वारा कहा गया है, हे भरतवंशी जो मनुष्य इस परम-ज्ञान को इसी प्रकार से समझता है वह बुद्धिमान हो जाता है और उसके सभी प्रयत्न पूर्ण हो जाते हैं ।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ) योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसं(वँ)वादे

पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शांतिः(श्) शांतिः(श्) शांतिः ॥

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।

श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता षोडशो अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(न्)

षोडशोध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अभयं(म्) सत्त्वसं(म्)शुद्धिर्- ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।

दानं(न्) दमश्च यज्ञश्च, स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ 1 ॥

श्री भगवान बोले- भय का सर्वथा अभाव, अन्तःकरण की पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञान के लिए ध्यान योग में निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियों का दमन, भगवान, देवता और गुरुजनों की पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मों का आचरण एवं वेद-शास्त्रों का पठन-पाठन तथा भगवान् के नाम और गुणों का कीर्तन, स्वधर्म पालन के लिए कष्टसहन और शरीर तथा इन्द्रियों के सहित अन्तःकरण की सरलता।

अहिं(म्)सा सत्यमक्रोधस्- त्यागः(श्) शान्तिरपैशुनम्।

दया भूतेष्वलोलुप्त्वं(म्), मार्दवं(म्) ह्रीरचापलम् ॥ 2 ॥

मन, वाणी और शरीर से किसी प्रकार भी किसी को कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करने वाले पर भी क्रोध का न होना, कर्मों में कर्तापन के अभिमान का त्याग, अन्तःकरण की उपरति अर्थात् चित्त की चञ्चलता का अभाव, किसी की भी निन्दादि न करना, सब भूतप्राणियों में हेतुरहित दया, इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने पर भी उनमें आसक्ति का न होना, कोमलता, लोक और शास्त्र से विरुद्ध आचरण में लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव।

तेजः(ह) क्षमा धृतिः(श्) शौच- मद्रोहोनातिमानिता।

भवन्ति सम्पदं(न्) दैवी- मभिजातस्य भारत ॥ 3 ॥

तेज , क्षमा, धैर्य, बाहर की शुद्धि एवं किसी में भी शत्रुभाव का न होना और अपने में पूज्यता के अभिमान का अभाव- ये सब तो हे अर्जुन! दैवी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण हैं ।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च, क्रोधः(फ्) पारुष्यमेव च।

अज्ञानं(ञ्) चाभिजातस्य, पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ 4 ॥

हे पार्थ! दम्भ, घमण्ड और अभिमान तथा क्रोध, कठोरता और अज्ञान भी- ये सब आसुरी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण हैं।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय, निबन्धायासुरी मता।

मा शुचः(स्) सम्पदं(न्) दैवी- मभिजातोऽसि पाण्डव ॥ 5 ॥

दैवी सम्पदा मुक्ति के लिए और आसुरी सम्पदा बाँधने के लिए मानी गई है। इसलिए हे अर्जुन! तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुआ है।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्- दैव आसुर एव च।

दैवो विस्तरशः(फ्) प्रोक्त, आसुरं(म्) पार्थ में श्रृणु ॥ 6 ॥

हे अर्जुन! इस लोक में भूतों की सृष्टि यानी मनुष्य समुदाय दो ही प्रकार का है, एक तो दैवी प्रकृति वाला और दूसरा आसुरी प्रकृति वाला। उनमें से दैवी प्रकृति वाला तो विस्तारपूर्वक कहा गया, अब तू आसुरी प्रकृति वाले मनुष्य समुदाय को भी विस्तारपूर्वक मुझसे सुन ।

प्रवृत्तिं(ञ्) च निवृत्तिं(ञ्) च, जना न विदुरासुराः।

न शौचं(न्) नापि चाचारो, न सत्यं(न्) तेषु विद्यते ॥ 7 ॥

आसुर स्वभाव वाले मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति- इन दोनों को ही नहीं जानते। इसलिए उनमें न तो बाहर-भीतर की शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है और न सत्य भाषण ही है ॥7॥

असत्यमप्रतिष्ठं(न्) ते, जगदाहुरनीश्वरम्।

अपरस्परसम्भूतं(ङ्), किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ 8 ॥

वे आसुरी प्रकृति वाले मनुष्य कहा करते हैं कि जगत् आश्रयरहित, सर्वथा असत्य और बिना ईश्वर के, अपने-आप केवल स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न है, अतएव केवल काम ही इसका कारण है। इसके सिवा और क्या है ?

एतां(न्) दृष्टिमवष्टभ्य, नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।

प्रभवन्त्युग्रकर्माणः(ह), क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ 9 ॥

इस मिथ्या ज्ञान को अवलम्बन करके- जिनका स्वभाव नष्ट हो गया है तथा जिनकी बुद्धि मन्द है, वे सब अपकार करने वाले क्रुरकर्मी मनुष्य केवल जगत् के नाश के लिए ही समर्थ होते हैं।

काममाश्रित्य दुष्पूरं(न्), दम्भमानमदान्विताः।

मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्-प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ 10 ॥

वे दम्भ, मान और मद से युक्त मनुष्य किसी प्रकार भी पूर्ण न होने वाली कामनाओं का आश्रय लेकर, अज्ञान से मिथ्या सिद्धांतों को ग्रहण करके भ्रष्ट आचरणों को धारण करके संसार में विचरते हैं ।

चिन्तामपरिमेयां(ञ्) च, प्रलयान्तामुपाश्रिताः।

कामोपभोगपरमा, एतावदिति निश्चिताः ॥ 11 ॥

तथा वे मृत्युपर्यन्त रहने वाली असंख्य चिन्ताओं का आश्रय लेने वाले, विषयभोगों के भोगने में तत्पर रहने वाले और इतना ही सुख है इस प्रकार मानने वाले होते हैं ।

आशापाशशतैर्बद्धाः(ख्), कामक्रोधपरायणाः।

ईहन्ते कामभोगार्थ- मन्यायेनार्थसञ्चयान्॥ 12 ॥

वे आशा की सैकड़ों फाँसियों से बँधे हुए मनुष्य काम-क्रोध के परायण होकर विषय भोगों के लिए अन्यायपूर्वक धनादि पदार्थों का संग्रह करने की चेष्टा करते हैं ।

इदमद्य मया लब्ध- मिमं(म्) प्राप्स्ये मनोरथम्।

इदमस्तीदमपि मे, भविष्यति पुनर्धनम् ॥ 13 ॥

वे सोचा करते हैं कि मैंने आज यह प्राप्त कर लिया है और अब इस मनोरथ को प्राप्त कर लूँगा। मेरे पास यह इतना धन है और फिर भी यह हो जाएगा।

असौ मया हतः(श्) शत्रुर्- हनिष्ये चापरानपि।

ईश्वरोऽहमहं(म्) भोगी, सिद्धोऽहं(म्) बलवान्सुखी ॥ 14 ॥

वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया और उन दूसरे शत्रुओं को भी मैं मार डालूँगा। मैं ईश्वर हूँ, ऐश्वर्य को भोगने वाला हूँ। मै सब सिद्धियों से युक्त हूँ और बलवान् तथा सुखी हूँ ।

आढ्योऽभिजनवानस्मि, कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।

यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य, इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ 15 ॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता, मोहजालसमावृताः।

प्रसक्ताः(ख्) कामभोगेषु, पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ 16 ॥

मैं बड़ा धनी और बड़े कुटुम्ब वाला हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और आमोद-प्रमोद करूँगा। इस प्रकार अज्ञान से मोहित रहने वाला हूँ। तथा अनेक प्रकार से भ्रमित चित्त वाले मोहरूप जाल से समावृत और विषयभोगों में अत्यन्त आसक्त आसुरलोग महान् अपवित्र नरक में गिरते हैं ।

आत्मसम्भाविताः(स्) स्तब्धा, धनमानमदान्विताः।

यजन्ते नामयज्ञैस्ते, दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥ 17 ॥

वे अपने-आपको ही श्रेष्ठ मानने वाले घमण्डी पुरुष धन और मान के मद से युक्त होकर केवल नाममात्र के यज्ञों द्वारा पाखण्ड से शास्त्रविधिरहित यजन करते हैं ।

अहङ्कारं(म्) बलं(न्) दर्पं(ङ्), कामं(ङ्) क्रोधं(ञ्) च सं(म्)श्रिताः।

मामात्मपरदेहेषु, प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ 18 ॥

वे अहंकार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधादि के परायण और दूसरों की निन्दा करने वाले पुरुष अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ अन्तर्यामी से द्वेष करने वाले होते हैं ।

तानहं(न्) द्विषतः(ख्) क्रूरान्- सं(म्)सारेषु नराधमान्।

क्षिपाम्यजस्रमशुभा- नासुरीष्वेव योनिषु ॥ 19 ॥

उन द्वेष करने वाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमों को मैं संसार में बार-बार आसुरी योनियों में ही डालता हूँ ।

आसुरीं(यँ) योनिमापन्ना, मूढा जन्मनि जन्मनि।

मामप्राप्यैव कौन्तेय, ततो यान्त्यधमां(ङ्) गतिम् ॥ 20 ॥

हे अर्जुन! वे मूढ़ मुझको न प्राप्त होकर ही जन्म-जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अति नीच गति को ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकों में पड़ते हैं।

त्रिविधं(न्) नरकस्येदं(न्), द्वारं(न्) नाशनमात्मनः।

कामः(ख्) क्रोधस्तथा लोभस्- तस्मादेतत्त्रयं(न्) त्यजेत् ॥ 21 ॥

काम, क्रोध तथा लोभ- ये तीन प्रकार के नरक के द्वार आत्मा का नाश करने वाले अर्थात् उसको अधोगति में ले जाने वाले हैं। अतएव इन तीनों को त्याग देना चाहिए ॥21॥

एतैर्विमुक्तः(ख्) कौन्तेय, तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।

आचरत्यात्मनः(श्) श्रेयस्- ततो याति परां(ङ्) गतिम् ॥ 22 ॥

हे अर्जुन! इन तीनों नरक के द्वारों से मुक्त पुरुष अपने कल्याण का आचरण करता है, इससे वह परमगति को जाता है अर्थात् मुझको प्राप्त हो जाता है ॥22॥

यः(श्) शास्त्रविधिमुत्सृज्य, वर्तते कामकारतः।

न स सिद्धिमवाप्नोति, न सुखं(न्) न परां(ङ्) गतिम् ॥ 23 ॥

जो पुरुष शास्त्र विधि को त्यागकर अपनी इच्छा से मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धि को प्राप्त होता है, न परमगति को और न सुख को ही ।

तस्माच्छास्त्रं(म्) प्रमाणं(न्) ते, कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं(ङ्), कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ 24 ॥

इससे तेरे लिए इस कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू शास्त्र विधि से नियत कर्म ही करने योग्य है ।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ) योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसं(वँ)वादे

दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शांतिः(श्) शांतिः(श्) शांतिः ॥

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।

श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता सप्तदशो अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(न्)

सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य, यजन्ते श्रद्धयान्विताः।

तेषां(न्) निष्ठा तु का कृष्ण, सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ 1॥

अर्जुन बोले- हे कृष्ण! जो मनुष्य शास्त्र विधि को त्यागकर श्रद्धा से युक्त हुए देवादिका पूजन करते हैं, उनकी स्थिति फिर कौन-सी है? सात्त्विकी है अथवा राजसी किंवा तामसी?

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा, देहिनां(म्) सा स्वभावजा।

सात्त्विकी राजसी चैव, तामसी चेति तां(म्) श्रृणु ॥ 2॥

श्री भगवान् बोले- मनुष्यों की वह शास्त्रीय संस्कारों से रहित केवल स्वभाव से उत्पन्न श्रद्धा सात्त्विकी और राजसी तथा तामसी- ऐसे तीनों प्रकार की ही होती है। उसको तू मुझसे सुन ।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य, श्रद्धा भवति भारत।

श्रद्धामयोऽयं(म्) पुरुषो, यो यच्छ्रद्धः(स्) स एव सः ॥ 3॥

हे भारत! सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिए जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है ।

यजन्ते सात्त्विका देवान्- यक्षरक्षां(म्)सि राजसाः।

प्रेतान्भूतगणां(म्)श्चान्ये, यजन्ते तामसा जनाः ॥ 4॥

सात्त्विक पुरुष देवों को पूजते हैं, राजस पुरुष यक्ष और राक्षसों को तथा अन्य जो तामस मनुष्य हैं, वे प्रेत और भूतगणों को पूजते हैं ।

अशास्त्रविहितं(ङ्)घोरं(न्), तप्यन्ते ये तपो जनाः।

दम्भाहङ्कारसं(यँ)युक्ताः(ख्), कामरागबलान्विताः ॥ 5॥

जो मनुष्य शास्त्र विधि से रहित केवल मनःकल्पित घोर तप को तपते हैं तथा दम्भ और अहंकार से युक्त एवं कामना, आसक्ति और बल के अभिमान से भी युक्त हैं ।

कर्शयन्तः(श्) शरीरस्थं(म्), भूतग्राममचेतसः।

मां(ञ्) चैवान्तः(श्)शरीरस्थं(न्), तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ 6॥

जो शरीर रूप से स्थित भूत समुदाय को और अन्तःकरण में स्थित मुझ परमात्मा को भी कृश करने वाले हैं, उन अज्ञानियों को तू आसुर स्वभाव वाले जान ।

आहारस्त्वपि सर्वस्य, त्रिविधो भवति प्रियः।

यज्ञस्तपस्तथा दानं(न्), तेषां(म्) भेदमिमं(म्) श्रृणु ॥ 7॥

भोजन भी सबको अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार तीन प्रकार का प्रिय होता है। और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं। उनके इस पृथक्-पृथक् भेद को तू मुझ से सुन।

आयुः(स्) सत्त्वबलारोग्य- सुखप्रीतिविवर्धनाः।

रस्याः(स्) स्निग्धाः(स्) स्थिरा हृद्या, आहाराः(स्) सात्त्विकप्रियाः ॥ 8॥

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहने वाले तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय- ऐसे आहार अर्थात् भोजन करने के पदार्थ सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्ण- तीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।

आहारा राजसस्येष्टा, दुःखशोकामयप्रदाः ॥ 9॥

कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगों को उत्पन्न करने वाले आहार अर्थात् भोजन करने के पदार्थ राजस पुरुष को प्रिय होते हैं ।

यातयामं(ङ्) गतरसं(म्), पूति पर्युषितं(ञ्) च यत्।

उच्छिष्टमपि चामेध्यं(म्), भोजनं(न्) तामसप्रियम् ॥ 10॥

जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुष को प्रिय होता है ।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो, विधिदृष्टो य इज्यते।

यष्टव्यमेवेति मनः(स्), समाधाय स सात्त्विकः ॥ 11॥

जो शास्त्र विधि से नियत, यज्ञ करना ही कर्तव्य है- इस प्रकार मन को समाधान करके, फल न चाहने वाले पुरुषों द्वारा किया जाता है, वह सात्त्विक है ।

अभिसन्धाय तु फलं(न्), दम्भार्थमपि चैव यत्।

इज्यते भरतश्रेष्ठ, तं(यँ) यज्ञं(वँ) विद्धि राजसम् ॥ 12॥

परन्तु हे अर्जुन! केवल दम्भाचरण के लिए अथवा फल को भी दृष्टि में रखकर जो यज्ञ किया जाता है, उस यज्ञ को तू राजस जान ।

विधिहीनमसृष्टान्नं(म्), मन्त्रहीनमदक्षिणम्।

श्रद्धाविरहितं(यँ) यज्ञं(न्), तामसं(म्) परिचक्षते ॥ 13॥

शास्त्रविधि से हीन, अन्नदान से रहित, बिना मन्त्रों के, बिना दक्षिणा के और बिना श्रद्धा के किए जाने वाले यज्ञ को तामस यज्ञ कहते हैं ।

देवद्विजगुरुप्राज्ञ- पूजनं(म्) शौचमार्जवम्।

ब्रह्मचर्यमहिं(म्)सा च, शारीरं(न्) तप उच्यते ॥ 14॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा- यह शरीर-सम्बन्धी तप कहा जाता है ।

अनुद्वेगकरं(वँ) वाक्यं(म्), सत्यं(म्) प्रियहितं(ञ्) च यत्।

स्वाध्यायाभ्यसनं(ञ्) चैव, वाङ्मयं(न्) तप उच्यते ॥ 15॥

जो उद्वेग न करने वाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रों के पठन का एवं परमेश्वर के नाम-जप का अभ्यास है- वही वाणी-सम्बन्धी तप कहा जाता है ।

मनः(फ्) प्रसादः(स्) सौम्यत्वं(म्), मौनमात्मविनिग्रहः।

भावसं(म्)शुद्धिरित्येतत्- तपो मानसमुच्यते ॥ 16॥

मन की प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करने का स्वभाव, मन का निग्रह और अन्तःकरण के भावों की भलीभाँति पवित्रता, इस प्रकार यह मन सम्बन्धी तप कहा जाता है ।

श्रद्धया परया तप्तं(न्), तपस्तत्त्रिविधं(न्) नरैः।

अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः(स्), सात्त्विकं(म्) परिचक्षते ॥ 17॥

फल को न चाहने वाले योगी पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा से किए हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकार के तप को सात्त्विक कहते हैं ।

सत्कारमानपूजार्थं(न्), तपो दम्भेन चैव यत्।

क्रियते तदिह प्रोक्तं(म्), राजसं(ञ्) चलमध्रुवम् ॥ 18॥

जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिए तथा अन्य किसी स्वार्थ के लिए भी स्वभाव से या पाखण्ड से किया जाता है, वह अनिश्चित एवं क्षणिक फलवाला तप यहाँ राजस कहा गया है ।

मूढग्राहेणात्मनो यत्-पीडया क्रियते तपः।

परस्योत्सादनार्थं(वँ) वा, तत्तामसमुदाहृतम् ॥ 19॥

जो तप मूढ़तापूर्वक हठ से, मन, वाणी और शरीर की पीड़ा के सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है- वह तप तामस कहा गया है ।

दातव्यमिति यद्दानं(न्), दीयतेऽनुपकारिणे।

देशे काले च पात्रे च, तद्दानं(म्) सात्त्विकं(म्) स्मृतम् ॥ 20॥

दान देना ही कर्तव्य है- ऐसे भाव से जो दान देश तथा काल और पात्र के प्राप्त होने पर उपकार न करने वाले के प्रति दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है ।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं(म्), फलमुद्दिश्य वा पुनः।

दीयते च परिक्लिष्टं(न्), तद्दानं(म्) राजसं(म्) स्मृतम् ॥ 21॥

किन्तु जो दान क्लेशपूर्वक तथा प्रत्युपकार के प्रयोजन से अथवा फल को दृष्टि में रखकर फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है ।

अदेशकाले यद्दान- मपात्रेभ्यश्च दीयते।

असत्कृतमवज्ञातं(न्), तत्तामसमुदाहृतम् ॥ 22॥

जो दान बिना सत्कार के अथवा तिरस्कारपूर्वक अयोग्य देश-काल में और कुपात्र के प्रति दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है ।

ॐ तत्सदिति निर्देशो, ब्रह्मणस्त्रिविधः(स्) स्मृतः।

ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च, यज्ञाश्च विहिताः(फ्) पुरा ॥ 23॥

ॐ, तत्, सत्-ऐसे यह तीन प्रकार का सच्चिदानन्दघन ब्रह्म का नाम कहा है, उसी से सृष्टि के आदिकाल में ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गए ।

तस्मादोमित्युदाहृत्य, यज्ञदानतपःक्रियाः।

प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः, सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ 24॥

इसलिए वेद-मन्त्रों का उच्चारण करने वाले श्रेष्ठ पुरुषों की शास्त्र विधि से नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा ॐ इस परमात्मा के नाम को उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं ।

तदित्यनभिसन्धाय, फलं यज्ञतपः क्रियाः।

दानक्रियाश्च विविधाः, क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ 25॥

तत् अर्थात् तत् नाम से कहे जाने वाले परमात्मा का ही यह सब है- इस भाव से फल को न चाहकर नाना प्रकार के यज्ञ, तपरूप क्रियाएँ तथा दानरूप क्रियाएँ कल्याण की इच्छा वाले पुरुषों द्वारा की जाती हैं ।

सद्भावे साधुभावे च, सदित्येतत्प्रयुज्यते।

प्रशस्ते कर्मणि तथा, सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ 26॥

सत्- इस प्रकार यह परमात्मा का नाम सत्यभाव में और श्रेष्ठभाव में प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ! उत्तम कर्म में भी सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है ।

यज्ञे तपसि दाने च, स्थितिः सदिति चोच्यते।

कर्म चैव तदर्थीयं, सदित्येवाभिधीयते ॥ 27॥

तथा यज्ञ, तप और दान में जो स्थिति है, वह भी सत् इस प्रकार कही जाती है और उस परमात्मा के लिए किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत्-ऐसे कहा जाता है ।

अश्रद्धया हुतं दत्तं, तपस्तप्तं कृतं च यत्।

असदित्युच्यते पार्थ, न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ 28॥

हे अर्जुन! बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन, दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ शुभ कर्म है- वह समस्त असत्- इस प्रकार कहा जाता है, इसलिए वह न तो इस लोक में लाभदायक है और न मरने के बाद ही ।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे

श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शांतिः(श्) शांतिः(श्) शांतिः ॥

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।

श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता अथाष्टादशो अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(न्)

अथाष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

सन्न्यासस्य महाबाहो, तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।

त्यागस्य च हृषीकेश, पृथक्केशिनिषूदन ॥ 1 ॥

अर्जुन बोले- हे महाबाहो! हे अन्तर्यामिन्! हे वासुदेव! मैं संन्यास और त्याग के तत्व को पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ ।

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां(ङ्) कर्मणा न्यासं(म्), सन्न्यासं(ङ्) कवयो विदुः ।

सर्वकर्मफलत्यागं(म्), प्राहुस्त्यागं(वँ) विचक्षणाः ॥ 2 ॥

श्री भगवान बोले- कितने ही पण्डितजन तो काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास समझते हैं तथा दूसरे विचारकुशल पुरुष सब कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं ।

त्याज्यं(न्) दोषवदित्येके, कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।

यज्ञदानतपः(ख्)कर्म, न त्याज्यमिति चापरे ॥ 3 ॥

कई एक विद्वान ऐसा कहते हैं कि कर्ममात्र दोषयुक्त हैं, इसलिए त्यागने के योग्य हैं और दूसरे विद्वान यह कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं ।

निश्चयं(म्) श्रृणु मे तत्र, त्यागे भरतसत्तम ।

त्यागो हि पुरुषव्याघ्र, त्रिविधः(स्) सम्प्रकीर्तितः ॥ 4 ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन ! संन्यास और त्याग, इन दोनों में से पहले त्याग के विषय में तू मेरा निश्चय सुन। क्योंकि त्याग सात्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार का कहा गया है ।

यज्ञदानतपः(ख्)कर्म, न त्याज्यं(ङ्) कार्यमेव तत् ।

यज्ञो दानं(न्) तपश्चैव, पावनानि मनीषिणाम् ॥ 5 ॥

यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करने के योग्य नहीं है, बल्कि वह तो अवश्य कर्तव्य है, क्योंकि यज्ञ, दान और तप -ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान पुरुषों को पवित्र करने वाले हैं ।

एतान्यपि तु कर्माणि, सङ्गं(न्) त्यक्त्वा फलानि च ।

कर्तव्यानीति में पार्थ, निश्चितं(म्) मतमुत्तमम् ॥ 6 ॥

इसलिए हे पार्थ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मों को तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मों को आसक्ति और फलों का त्याग करके अवश्य करना चाहिए, यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है ।

नियतस्य तु सन्न्यासः(ख्), कर्मणो नोपपद्यते ।

मोहात्तस्य परित्यागस्- तामसः(फ्) परिकीर्तितः ॥ 7 ॥

नियत कर्म का स्वरूप से त्याग करना उचित नहीं है। इसलिए मोह के कारण उसका त्याग कर देना तामस त्याग कहा गया है ।

दुःखमित्येव यत्कर्म, कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।

स कृत्वा राजसं(न्) त्यागं(न्), नैव त्यागफलं(लँ) लभेत् ॥ 8 ॥

जो कुछ कर्म है वह सब दुःखरूप ही है- ऐसा समझकर यदि कोई शारीरिक क्लेश के भय से कर्तव्य-कर्मों का त्याग कर दे, तो वह ऐसा राजस त्याग करके त्याग के फल को किसी प्रकार भी नहीं पाता ।

कार्यमित्येव यत्कर्म, नियतं(ङ्) क्रियतेऽर्जुन ।

सङ्गं(न्) त्यक्त्वा फलं(ञ्) चैव, स त्यागः(स्) सात्त्विको मतः ॥ 9 ॥

हे अर्जुन! जो शास्त्रविहित कर्म करना कर्तव्य है- इसी भाव से आसक्ति और फल का त्याग करके किया जाता है- वही सात्त्विक त्याग माना गया है ।

न द्वेष्ट्यकुशलं(ङ्) कर्म, कुशले नानुषज्जते ।

त्यागी सत्त्वसमाविष्टो, मेधावी छिन्नसं(म्)शयः ॥ 10 ॥

जो मनुष्य अकुशल कर्म से तो द्वेष नहीं करता और कुशल कर्म में आसक्त नहीं होता- वह शुद्ध सत्त्वगुण से युक्त पुरुष संशयरहित, बुद्धिमान और सच्चा त्यागी है ।

न हि देहभृता शक्यं(न्), त्यक्तुं(ङ्) कर्माण्यशेषतः ।

यस्तु कर्मफलत्यागी, स त्यागीत्यभिधीयते ॥ 11 ॥

क्योंकि शरीरधारी किसी भी मनुष्य द्वारा सम्पूर्णता से सब कर्मों का त्याग किया जाना शक्य नहीं है, इसलिए जो कर्मफल त्यागी है, वही त्यागी है- यह कहा जाता है ।

अनिष्टमिष्टं(म्) मिश्रं(ञ्) च, त्रिविधं(ङ्) कर्मणः(फ्) फलम् ।

भवत्यत्यागिनां(म्) प्रेत्य, न तु सन्न्यासिनां(ङ्) क्वचित् ॥ 12 ॥

कर्मफल का त्याग न करने वाले मनुष्यों के कर्मों का तो अच्छा, बुरा और मिला हुआ- ऐसे तीन प्रकार का फल मरने के पश्चात अवश्य होता है, किन्तु कर्मफल का त्याग कर देने वाले मनुष्यों के कर्मों का फल किसी काल में भी नहीं होता ।

पञ्चैतानि महाबाहो, कारणानि निबोध मे ।

साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि, सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ 13 ॥

हे महाबाहो! सम्पूर्ण कर्मों की सिद्धि के ये पाँच हेतु कर्मों का अंत करने के लिए उपाय बतलाने वाले सांख्य-शास्त्र में कहे गए हैं, उनको तू मुझसे भलीभाँति जान ।

अधिष्ठानं(न्) तथा कर्ता, करणं(ञ्) च पृथग्विधम् ।

विविधाश्च पृथक्चेष्टा, दैवं(ञ्) चैवात्र पञ्चमम् ॥ 14 ॥

इस विषय में अर्थात कर्मों की सिद्धि में अधिष्ठान और कर्ता तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के करण एवं नाना प्रकार की अलग-अलग चेष्टाएँ और वैसे ही पाँचवाँ हेतु दैव है ।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्- कर्म प्रारभते नरः ।

न्याय्यं(वँ) वा विपरीतं(वँ) वा, पञ्चैते तस्य हेतवः॥ 15 ॥

मनुष्य मन, वाणी और शरीर से शास्त्रानुकूल अथवा विपरीत जो कुछ भी कर्म करता है- उसके ये पाँचों कारण हैं ।

तत्रैवं(म्) सति कर्तार- मात्मानं(ङ्) केवलं(न्) तु यः ।

पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्-न स पश्यति दुर्मतिः ॥ 16 ॥

परन्तु ऐसा होने पर भी जो मनुष्य अशुद्ध बुद्धि होने के कारण उस विषय में यानी कर्मों के होने में केवल शुद्ध स्वरूप आत्मा को कर्ता समझता है, वह मलीन बुद्धि वाला अज्ञानी यथार्थ नहीं समझता।

यस्य नाहङ्कृतो भावो, बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।

हत्वापि स इमाँल्लोकान्- न हन्ति न निबध्यते ॥ 17 ॥

जिस पुरुष के अन्तःकरण में मैं कर्ता हूँ ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थों में और कर्मों में लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकों को मारकर भी वास्तव में न तो मरता है और न पाप से बँधता है ।

ज्ञानं(ञ्) ज्ञेयं(म्) परिज्ञाता, त्रिविधा कर्मचोदना ।

करणं(ङ्) कर्म कर्तेति, त्रिविधः(ख्) कर्मसङ्ग्रहः ॥ 18 ॥

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय - ये तीनों प्रकार की कर्म-प्रेरणा हैं और कर्ता, करण तथा क्रिया - ये तीनों प्रकार का कर्म-संग्रह है।

ज्ञानं(ङ्) कर्म च कर्ता च, त्रिधैव गुणभेदतः ।

प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने, यथावच्छृणु तान्यपि ॥ 19 ॥

गुणों की संख्या करने वाले शास्त्र में ज्ञान और कर्म तथा कर्ता गुणों के भेद से तीन-तीन प्रकार के ही कहे गए हैं, उनको भी तु मुझसे भलीभाँति सुन ।

सर्वभूतेषु येनैकं(म्), भावमव्ययमीक्षते ।

अविभक्तं(वँ) विभक्तेषु, तज्ज्ञानं(वँ) विद्धि सात्त्विकम् ॥ 20 ॥

जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक-पृथक सब भूतों में एक अविनाशी परमात्मभाव को विभागरहित समभाव से स्थित देखता है, उस ज्ञान को तू सात्त्विक जान ।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं(न्), नानाभावान्पृथग्विधान् ।

वेत्ति सर्वेषु भूतेषु, तज्ज्ञानं(वँ) विद्धि राजसम् ॥ 21 ॥

किन्तु जो ज्ञान अर्थात जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतों में भिन्न-भिन्न प्रकार के नाना भावों को अलग-अलग जानता है, उस ज्ञान को तू राजस जान ।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्- कार्ये सक्तमहैतुकम्।

अतत्त्वार्थवदल्पं(ञ्) च, तत्तामसमुदाहृतम्॥ 22 ॥

परन्तु जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीर में ही सम्पूर्ण के सदृश आसक्त है तथा जो बिना युक्तिवाला, तात्त्विक अर्थ से रहित और तुच्छ है- वह तामस कहा गया है ।

नियतं(म्) सङ्गरहित- मरागद्वेषतः(ख्) कृतम।

अफलप्रेप्सुना कर्म, यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥ 23 ॥

जो कर्म शास्त्रविधि से नियत किया हुआ और कर्तापन के अभिमान से रहित हो तथा फल न चाहने वाले पुरुष द्वारा बिना राग-द्वेष के किया गया हो- वह सात्त्विक कहा जाता है ।

यत्तु कामेप्सुना कर्म, साहंङ्कारेण वा पुनः।

क्रियते बहुलायासं(न्), तद्राजसमुदाहृतम्॥ 24 ॥

परन्तु जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त होता है तथा भोगों को चाहने वाले पुरुष द्वारा या अहंकारयुक्त पुरुष द्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है ।

अनुबन्धं(ङ्) क्षयं(म्) हिं(म्)सा- मनवेक्ष्य च पौरुषम् ।

मोहादारभ्यते कर्म, यत्तत्तामसमुच्यते॥ 25 ॥

जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को न विचारकर केवल अज्ञान से आरंभ किया जाता है, वह तामस कहा जाता है ।

मुक्तसङ्गोऽनहं(वँ)वादी, धृत्युत्साहसमन्वितः ।

सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः(ख्), कर्ता सात्त्विक उच्यते॥ 26 ॥

जो कर्ता संगरहित, अहंकार के वचन न बोलने वाला, धैर्य और उत्साह से युक्त तथा कार्य के सिद्ध होने और न होने में हर्ष -शोकादि विकारों से रहित है- वह सात्त्विक कहा जाता है ।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्- लुब्धो हिं(म्)सात्मकोऽशुचिः।

हर्षशोकान्वितः(ख्) कर्ता, राजसः(फ्) परिकीर्तितः॥ 27 ॥

जो कर्ता आसक्ति से युक्त कर्मों के फल को चाहने वाला और लोभी है तथा दूसरों को कष्ट देने के स्वभाववाला, अशुद्धाचारी और हर्ष-शोक से लिप्त है वह राजस कहा गया है ।

अयुक्तः(फ्) प्राकृतः(स्) स्तब्धः(श्), शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।

विषादी दीर्घसूत्री च, कर्ता तामस उच्यते ॥ 28 ॥

जो कर्ता अयुक्त, शिक्षा से रहित घमंडी, धूर्त और दूसरों की जीविका का नाश करने वाला तथा शोक करने वाला, आलसी और दीर्घसूत्री है वह तामस कहा जाता है ।

बुद्धेर्भेदं(न्) धृतेश्चैव, गुणतस्त्रिविधं(म्) श्रृणु ।

प्रोच्यमानमशेषेण, पृथक्त्वेन धनं(ञ्)जय ॥ 29 ॥

हे धनंजय! अब तू बुद्धि का और धृति का भी गुणों के अनुसार तीन प्रकार का भेद मेरे द्वारा सम्पूर्णता से विभागपूर्वक कहा जाने वाला सुन ।

प्रवृत्तिं(ञ्) च निवृत्तिं(ञ्) च, कार्याकार्ये भयाभये।

बन्धं(म्) मोक्षं(ञ्) च या वेति, बुद्धिः(स्) सा पार्थ सात्त्विकी ॥ 30 ॥

हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्ति मार्ग को, कर्तव्य और अकर्तव्य को, भय और अभय को तथा बंधन और मोक्ष को यथार्थ जानती है- वह बुद्धि सात्त्विकी है ।

यया धर्ममधर्मं(ञ्) च, कार्यं(ञ्) चाकार्यमेव च।

अयथावत्प्रजानाति, बुद्धिः(स्) सा पार्थ राजसी॥ 31 ॥

हे पार्थ! मनुष्य जिस बुद्धि के द्वारा धर्म और अधर्म को तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को भी यथार्थ नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है ।

अधर्मं(न्) धर्ममिति या, मन्यते तमसावृता।

सर्वार्थान्विपरीतां(म्)श्च, बुद्धिः(स्) सा पार्थ तामसी॥ 32 ॥

हे अर्जुन! जो तमोगुण से घिरी हुई बुद्धि अधर्म को भी यह धर्म है ऐसा मान लेती है तथा इसी प्रकार अन्य संपूर्ण पदार्थों को भी विपरीत मान लेती है, वह बुद्धि तामसी है ।

धृत्या यया धारयते, मनः(फ्)प्राणेन्द्रियक्रियाः।

योगेनाव्यभिचारिण्या, धृतिः(स्) सा पार्थ सात्त्विकी ॥ 33 ॥

हे पार्थ! जिस अव्यभिचारिणी धारण शक्ति से मनुष्य ध्यान योग के द्वारा मन, प्राण और इंद्रियों की क्रियाओं को धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है ।

यया तु धर्मकामार्थान्- धृत्या धारयतेऽर्जुन।

प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी, धृतिः(स्) सा पार्थ राजसी॥ 34 ॥

परंतु हे पृथापुत्र अर्जुन! फल की इच्छावाला मनुष्य जिस धारण शक्ति के द्वारा अत्यंत आसक्ति से धर्म, अर्थ और कामों को धारण करता है, वह धारण शक्ति राजसी है ।

यया स्वप्नं(म्) भयं(म्) शोकं(वँ), विषादं(म्) मदमेव च।

न विमुञ्चति दुर्मेधा, धृतिः(स्) सा पार्थ तामसी॥ 35 ॥

हे पार्थ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धारण शक्ति के द्वारा निद्रा, भय, चिंता और दुःख को तथा उन्मत्तता को भी नहीं छोड़ता अर्थात धारण किए रहता है- वह धारण शक्ति तामसी है ।

सुखं(न्) त्विदानीं(न्) त्रिविधं(म्), श्रृणु मे भरतर्षभ।

अभ्यासाद्रमते यत्र, दुःखान्तं(ञ्) च निगच्छति ॥ 36 ॥

हे भरतश्रेष्ठ! अब तीन प्रकार के सुख को भी तू मुझसे सुन। जिस सुख में साधक मनुष्य भजन, ध्यान और सेवादि के अभ्यास से रमण करता है और जिससे दुःखों के अंत को प्राप्त हो जाता है।

यत्तदग्रे विषमिव, परिणामेऽमृतोपमम्।

तत्सुखं(म्) सात्त्विकं(म्) प्रोक्त- मात्मबुद्धिप्रसादजम्॥ 37 ॥

जो ऐसा सुख है, वह आरंभकाल में यद्यपि विष के तुल्य प्रतीत होता है, परन्तु परिणाम में अमृत के तुल्य है, इसलिए वह परमात्मविषयक बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होने वाला सुख सात्त्विक कहा गया है।

विषयेन्द्रियसं(यँ)योगाद्-यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।

परिणामे विषमिव, तत्सुखं(म्) राजसं(म्) स्मृतम्॥ 38 ॥

जो सुख विषय और इंद्रियों के संयोग से होता है, वह पहले- भोगकाल में अमृत के तुल्य प्रतीत होने पर भी परिणाम में विष के तुल्य है इसलिए वह सुख राजस कहा गया है ।

यदग्रे चानुबन्धे च, सुखं(म्) मोहनमात्मनः।

निद्रालस्यप्रमादोत्थं(न्), तत्तामसमुदाहृतम्॥ 39 ॥

जो सुख भोगकाल में तथा परिणाम में भी आत्मा को मोहित करने वाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न सुख तामस कहा गया है ।

न तदस्ति पृथिव्यां(वँ) वा, दिवि देवेषु वा पुनः।

सत्त्वं(म्) प्रकृतिजैर्मुक्तं(यँ), यदेभिः(स्) स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ 40 ॥

पृथ्वी में या आकाश में अथवा देवताओं में तथा इनके सिवा और कहीं भी ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों ।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां(म्), शूद्राणां(ञ्) च परन्तप।

कर्माणि प्रविभक्तानि, स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ 41 ॥

हे परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के तथा शूद्रों के कर्म स्वभाव से उत्पन्न गुणों द्वारा विभक्त किए गए हैं ।

शमो दमस्तपः(श्) शौचं(ङ्), क्षान्तिरार्जवमेव च।

ज्ञानं(वँ) विज्ञानमास्तिक्यं(म्), ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ 42 ॥

अंतःकरण का निग्रह करना, इंद्रियों का दमन करना, धर्मपालन के लिए कष्ट सहना, बाहर-भीतर से शुद्ध रहना, दूसरों के अपराधों को क्षमा करना, मन, इंद्रिय और शरीर को सरल रखना, वेद, शास्त्र, ईश्वर और परलोक आदि में श्रद्धा रखना, वेद-शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन करना और परमात्मा के तत्त्व का अनुभव करना- ये सब-के-सब ही ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं ।

शौर्यं(न्) तेजो धृतिर्दाक्ष्यं(यँ), युद्धे चाप्यपलायनम्।

दानमीश्वरभावश्च, क्षात्रं(ङ्) कर्म स्वभावजम्॥ 43 ॥

शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्ध में न भागना, दान देना और स्वामिभाव- ये सब-के-सब ही क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं ।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं(वँ), वैश्यकर्म स्वभावजम्।

परिचर्यात्मकं(ङ्) कर्म, शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ 44 ॥

खेती, गोपालन और क्रय-विक्रय रूप सत्य व्यवहार - ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं तथा सब वर्णों की सेवा करना शूद्र का भी स्वाभाविक कर्म है ।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः(स्), सं(म्)सिद्धिं(लँ) लभते नरः।

स्वकर्मनिरतः(स्) सिद्धिं(यँ), यथा विन्दति तच्छृणु॥ 45 ॥

अपने-अपने स्वाभाविक कर्मों में तत्परता से लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्ति रूप परमसिद्धि को प्राप्त हो जाता है। अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकार से कर्म करके परमसिद्धि को प्राप्त होता है, उस विधि को तू सुन ।

यतः(फ्) प्रवृत्तिर्भूतानां(यँ), येन सर्वमिदं(न्) ततम्।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य, सिद्धिं(वँ) विन्दति मानवः॥ 46 ॥

जिस परमेश्वर से संपूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है , उस परमेश्वर की अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त हो जाता है ।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः(फ्), परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।

स्वभावनियतं(ङ्) कर्म, कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ 47 ॥

अच्छी प्रकार आचरण किए हुए दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभाव से नियत किए हुए स्वधर्मरूप कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप को नहीं प्राप्त होता ।

सहजं(ङ्) कर्म कौन्तेय, सदोषमपि न त्यजेत्।

सर्वारम्भा हि दोषेण, धूमेनाग्निरिवावृताः॥ 48 ॥

अतएव हे कुन्तीपुत्र! दोषयुक्त होने पर भी सहज कर्म को नहीं त्यागना चाहिए, क्योंकि धूएँ से अग्नि की भाँति सभी कर्म किसी-न-किसी दोष से युक्त हैं ।

असक्तबुद्धिः(स्) सर्वत्र, जितात्मा विगतस्पृहः।

नैष्कर्म्यसिद्धिं(म्) परमां(म्), सन्न्यासेनाधिगच्छति॥ 49 ॥

सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला, स्पृहारहित और जीते हुए अंतःकरण वाला पुरुष सांख्ययोग के द्वारा उस परम नैष्कर्म्यसिद्धि को प्राप्त होता है ।

सिद्धिं(म्) प्राप्तो यथा ब्रह्म, तथाप्नोति निबोध मे।

समासेनैव कौन्तेय, निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥ 50 ॥

जो कि ज्ञान योग की परानिष्ठा है, उस नैष्कर्म्य सिद्धि को जिस प्रकार से प्राप्त होकर मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त होता है, उस प्रकार को हे कुन्तीपुत्र! तू संक्षेप में ही मुझसे समझ ।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो, धृत्यात्मानं(न्) नियम्य च।

शब्दादीन्विषयां(म्) स्त्यक्त्वा, रागद्वेषौ व्युदस्य च॥ 51 ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी, यतवाक्कायमानस।

ध्यानयोगपरो नित्यं(वँ), वैराग्यं(म्) समुपाश्रितः॥ 52 ॥

अहंङ्कारं(म्) बलं(न्) दर्पं(ङ्), कामं(ङ्) क्रोधं(म्) परिग्रहम्।

विमुच्य निर्ममः(श्) शान्तो, ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ 53 ॥

विशुद्ध बुद्धि से युक्त तथा हलका, सात्त्विक और नियमित भोजन करने वाला, शब्दादि विषयों का त्याग करके एकांत और शुद्ध देश का सेवन करने वाला, सात्त्विक धारण शक्ति के द्वारा अंतःकरण और इंद्रियों का संयम करके मन, वाणी और शरीर को वश में कर लेने वाला, राग-द्वेष को सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ़ वैराग्य का आश्रय लेने वाला तथा अहंकार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रह का त्याग करके निरंतर ध्यान योग के परायण रहने वाला, ममतारहित और शांतियुक्त पुरुष सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में अभिन्नभाव से स्थित होने का पात्र होता है ।

ब्रह्मभूतः(फ्) प्रसन्नात्मा, न शोचति न काङ्क्षति।

समः(स्) सर्वेषु भूतेषु, मद्भक्तिं(लँ) लभते पराम्॥ 54 ॥

फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में एकीभाव से स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसी के लिए शोक करता है और न किसी की आकांक्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियों में समभाव वाला योगी मेरी पराभक्ति को प्राप्त हो जाता है ।

भक्त्या मामभिजानाति, यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।

ततो मां(न्) तत्त्वतो ज्ञात्वा, विशते तदनन्तरम्॥ 55 ॥

उस पराभक्ति के द्वारा वह मुझ परमात्मा को, मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्व से जान लेता है तथा उस भक्ति से मुझको तत्त्व से जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।

सर्वकर्माण्यपि सदा, कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।

मत्प्रसादादवाप्नोति, शाश्वतं(म्) पदमव्ययम्॥ 56 ॥

मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो संपूर्ण कर्मों को सदा करता हुआ भी मेरी कृपा से सनातन अविनाशी परमपद को प्राप्त हो जाता है ।

चेतसा सर्वकर्माणि, मयि सन्न्यस्य मत्परः।

बुद्धियोगमुपाश्रित्य, मच्चित्तः(स्) सततं(म्) भव॥ 57 ॥

सब कर्मों को मन से मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धि रूप योग को अवलंबन करके मेरे परायण और निरंतर मुझमें चित्तवाला हो ।

मच्चित्तः(स्) सर्वदुर्गाणि, मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

अथ चेत्वमहंङ्कारान्, नश्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥ 58 ॥

उपर्युक्त प्रकार से मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपा से समस्त संकटों को अनायास ही पार कर जाएगा और यदि अहंकार के कारण मेरे वचनों को न सुनेगा तो नष्ट हो जाएगा अर्थात परमार्थ से भ्रष्ट हो जाएगा ।

यदहंङ्कारमाश्रित्य, न योत्स्य इति मन्यसे ।

मिथ्यैष व्यवसायस्ते, प्रकृतिस्त्वां(न्) नियोक्ष्यति ॥ 59 ॥

जो तू अहंकार का आश्रय लेकर यह मान रहा है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा तो तेरा यह निश्चय मिथ्या है, क्योंकि तेरा स्वभाव तुझे जबर्दस्ती युद्ध में लगा देगा ।

स्वभावजेन कौन्तेय, निबद्धः(स्) स्वेन कर्मणा ।

कर्तुं(न्) नेच्छसि यन्मोहात्- करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ 60 ॥

हे कुन्तीपुत्र! जिस कर्म को तू मोह के कारण करना नहीं चाहता, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्म से बँधा हुआ परवश होकर करेगा ।

ईश्वरः(स्) सर्वभूतानां(म्), हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन्सर्वभूतानि, यन्त्रारूढानि मायया॥ 61 ॥

हे अर्जुन! शरीर रूप यंत्र में आरूढ़ हुए संपूर्ण प्राणियों को अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी माया से उनके कर्मों के अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियों के हृदय में स्थित है ।

तमेव शरणं(ङ्) गच्छ, सर्वभावेन भारत।

तत्प्रसादात्परां(म्) शान्तिं(म्), स्थानं(म्) प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ 62 ॥

हे भारत! तू सब प्रकार से उस परमेश्वर की ही शरण में जाने जा। उस परमात्मा की कृपा से ही तू परम शांति को तथा सनातन परमधाम को प्राप्त होगा ।

इति ते ज्ञानमाख्यातं(ङ्), गुह्याद्गुह्यतरं(म्) मया ।

विमृश्यैतदशेषेण, यथेच्छसि तथा कुरु ॥ 63 ॥

इस प्रकार यह गोपनीय से भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तुमसे कह दिया। अब तू इस रहस्ययुक्त ज्ञान को पूर्णतया भलीभाँति विचार कर, जैसे चाहता है वैसे ही कर ।

सर्वगुह्यतमं(म्) भूयः(श्), श्रृणु मे परमं(वँ) वचः ।

इष्टोऽसि मे दृढमिति, ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ 64 ॥

संपूर्ण गोपनीयों से अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचन को तू फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा ।

मन्मना भव मद्भक्तो, मद्याजी मां(न्) नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि सत्यं(न्) ते, प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ 65 ॥

हे अर्जुन! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करने वाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करने से तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ क्योंकि तू मेरा अत्यंत प्रिय है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य, मामेकं(म्) शरणं(वँ) व्रज ।

अहं(न्) त्वा सर्वपापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ 66 ॥

संपूर्ण धर्मों को अर्थात संपूर्ण कर्तव्य कर्मों को मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान, सर्वाधार परमेश्वर की ही शरण में आ जा। मैं तुझे संपूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।

इदं(न्) ते नातपस्काय, नाभक्ताय कदाचन ।

न चाशुश्रूषवे वाच्यं(न्), न च मां(यँ) योऽभ्यसूयति ॥ 67 ॥

तुझे यह गीत रूप रहस्यमय उपदेश किसी भी काल में न तो तपरहित मनुष्य से कहना चाहिए, न भक्ति रहित से और न बिना सुनने की इच्छा वाले से ही कहना चाहिए तथा जो मुझमें दोषदृष्टि रखता है, उससे तो कभी भी नहीं कहना चाहिए ।

य इमं(म्) परमं(ङ्) गुह्यं(म्), मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।

भक्तिं(म्) मयि परां(ङ्) कृत्वा, मामेवैष्यत्यसं(म्)शयः॥ 68 ॥

जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्र को मेरे भक्तों में कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा- इसमें कोई संदेह नहीं है ।

न च तस्मान्मनुष्येषु, कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।

भविता न च मे तस्मा- दन्यः(फ्) प्रियतरो भुवि ॥ 69 ॥

उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करने वाला मनुष्यों में कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभर में उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्य में होगा भी नहीं ।

अध्येष्यते च य इमं(न्), धर्म्यं(म्) सं(वँ)वादमावयोः ।

ज्ञानयज्ञेन तेनाह-मिष्टः(स्) स्यामिति मे मतिः ॥ 70 ॥

जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनों के संवाद रूप गीताशास्त्र को पढ़ेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञ से पूजित होऊँगा- ऐसा मेरा मत है ।

श्रद्धावाननसूयश्च, श्रृणुयादपि यो नरः ।

सोऽपि मुक्तः(श्) शुभाँल्लोकान्- प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ 71 ॥

जो मनुष्य श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टि से रहित होकर इस गीताशास्त्र का श्रवण भी करेगा, वह भी पापों से मुक्त होकर उत्तम कर्म करने वालों के श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त होगा ।

कच्चिदेतच्छ्रुतं(म्) पार्थ, त्वयैकाग्रेण चेतसा ।

कच्चिदज्ञानसम्मोहः(फ्), प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥ 72 ॥

हे पार्थ! क्या इस गीताशास्त्र को तूने एकाग्रचित्त से श्रवण किया? और हे धनञ्जय! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया?

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः(स्) स्मृतिर्लब्धा, त्वप्रसादान्मयाच्युत ।

स्थितोऽस्मि गतसं(न्)देहः(ख्), करिष्ये वचनं(न्) तव ॥ 73 ॥

अर्जुन बोले- हे अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है, अब मैं संशयरहित होकर स्थिर हूँ, अतः आपकी आज्ञा का पालन करूँगा ।

सं(ञ्)जय उवाच

इत्यहं(वँ) वासुदेवस्य, पार्थस्य च महात्मनः ।

सं(वँ)वादमिममश्रौष-मद्भुतं(म्) रोमहर्षणम् ॥ 74 ॥

भावार्थ :संजय बोले- इस प्रकार मैंने श्री वासुदेव के और महात्मा अर्जुन के इस अद्भुत रहस्ययुक्त, रोमांचकारक संवाद को सुना ।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवा-नेतद्गुह्यमहं(म्) परम् ।

योगं(यँ) योगेश्वरात्कृष्णात्- साक्षात्कथयतः(स्) स्वयम्॥ 75 ॥

भावार्थ :श्री व्यासजी की कृपा से दिव्य दृष्टि पाकर मैंने इस परम गोपनीय योग को अर्जुन के प्रति कहते हुए स्वयं योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण से प्रत्यक्ष सुना।

राजन्संं(म्)स्मृत्य संं(म्)स्मृत्य, संं(वँ)वादमिममद्भुतम्।

केशवार्जुनयोः(फ्) पुण्यं(म्), हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ 76 ॥

हे राजन! भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस रहस्ययुक्त, कल्याणकारक और अद्भुत संवाद को पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ।

तच्च संं(म्)स्मृत्य संं(म्)स्मृत्य, रूपमत्यद्भुतं(म्) हरेः ।

विस्मयो मे महान् राजन्-हृष्यामि च पुनः(फ्) पुनः ॥ 77 ॥

हे राजन्! श्रीहरि के उस अत्यंत विलक्षण रूप को भी पुनः-पुनः स्मरण करके मेरे चित्त में महान आश्चर्य होता है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ।

यत्र योगेश्वरः(ख्) कृष्णो, यत्र पार्थो धनुर्धरः ।

तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्- ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ 78 ॥

हे राजन! जहाँ योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन है, वहीं पर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है- ऐसा मेरा मत है ।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ) योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसं(वँ)वादे
मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥18॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शांतिः(श्) शांतिः(श्) शांतिः ॥

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।